गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

डॉ० महावीर

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य

पी-एच.डी., डी.लिट्.

प्रोफेसर एवं निदेशक

श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

सह-सम्पादक

डॉ० दिनेशचन्द्र

वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार –249404

नवम्बर – दिसम्बर – ९८ जनवरी – फरवरी – ९९	वर्ष 50वां	मार्गशीर्ष – फाल्गुन सं. 2055

सम्पादक मण्डल

मूल्य	:	25 रुपये (वार्षिक)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन : 415975

वेद-मन्जरी

1. सरस्वती वन्दना

पावका नः सरस्वती, वाजेभिर् वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः।। ऋग्० १.३.१०

ऋषिः मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। देवता सरस्वती। छन्दः गायत्री।

पावका-पाविका, पवित्रतादायिनी, **वाजिनीवती**-वाजो बलं वेगो वा अस्या अस्तीति वाजिनी क्रिया तद्वती, क्रियाशालिनीत्यर्थः, **धियावसुः**, धिया प्रज्ञया कर्मणा च वसुः वासयित्री, समासे विभक्त्यलोपश्छान्दसः। धीः कर्म च प्रज्ञा च, निघ० २.२, ३.९ **सरस्वती** रसमयी जगदम्बा वेदवाणी च **वाजेभिः** वाजैः अन्न-धन-बल-विज्ञानादिभिः **नः** अस्माकम् **यज्ञम्** जीवनरूपम् अध्वरम् **वष्टु** निर्वोढुं कामयताम् निर्वहतु इत्यर्थः।।

आगच्छत, वयं सरस्वतीं वन्दामहे। सरस्वती वै जगन्माता जगदीश्वरी। सा रसमयी सती सर्वान् स्वीयं मधुरं स्तन्यं पाययति। तस्या दुग्धरसो ज्ञानं, बलं, पुष्टिं, विवेकं, चैतन्यं, प्राणं, स्फूर्तिम्, आनन्दं ददाति। तस्याः पयः पीत्वा ज्ञानशून्या अपि ज्ञानवारिधयः सञ्जायन्ते। तस्याः पयः पीत्वा पतिता अपि महर्षयः संपद्यन्ते। तस्याः पयः पीत्वा निर्बलात्मानो ऽपि बहुबला भवन्ति। तस्याः पयः पीत्वा सांसारिकैः कर्कशकष्टैः क्लिश्यमाना अपि सुखसागरस्य तरङ्गेषु दोलायन्ते। तस्याः पयः पीत्वा रोगैः क्लान्ता अपि कायेन मनसा च स्वास्थ्यम् अनामयं च लभन्ते। तस्याः पयः पीत्वा निष्क्रिया अपि सक्रियतां भजन्ते। तस्याः पयः पीत्वा असुरा अपि देवत्वं गच्छन्ति। सा जगन्माता **पाविका** वर्तते। अपवित्रान् पावयति सा। कालुष्येन मलिनान्तःकरणानां मालिन्यम् अपहरति सा। सा जगन्माता **वाजिनीवती** कीर्त्यते, यतः सा क्रियामयी सकलक्रियाकारिणी च विद्यते। तस्या एव क्रियया वायुः प्रवहति, सूर्यस्तपति, चन्द्रश्चन्द्रिकां प्रयच्छति, पर्जन्यो वर्षति। सा जगन्माता **धियावसुः** इति कीर्त्यते, यतः सा दिव्यबुद्धिप्रदानेन कर्मोपदेशेन च निवासयित्री जायते। सा जगदम्बा जीवनेऽस्माकं पदार्पणं कृत्वा स्वाधिकारे विद्यमानैरन्न- धन-बल-वेग-विज्ञानादिभिरस्माकं जीवनयज्ञं पूर्णतां लम्भयेत।

वेदवागपि सरस्वतीनाम्ना प्रोच्यते। सा हि जीनसंतर्पकेण ज्ञानरसेन परिपूर्णा। वेदवाण्यां किल भौतिकविद्याया अध्यात्मविद्याया आरोग्यविद्याया मनोविद्यायाः प्राणविद्यायाः सृष्टिविद्यायाः सर्वासामपि विद्यानां सरसं स्रोतः परिप्लवते। सापि **पाविका** वर्वर्ति। सा पाठकानां मनांसि पवित्रीकरोति। **वाजिनीवती** नाम्नापि प्रसिद्धा सा। सा हि सशक्तक्रियाकारिणी विद्यते। अर्थविचारपूर्वकं कृतो वेदवाण्याः पाठो वेदाध्यायिनम् उद्बोध्य तन्मनसि तीव्रां क्रियां जनयति। सा **धियावसुः** कथ्यते। नवनवोन्मेषशालिनीं प्रज्ञां प्रदाय कर्तव्यप्रेरणया च स्वाध्येतॄन् निवासयति सा।

अयि वरदे सरस्वति। अस्मभ्यं वरं प्रदेहि। अयि विद्यावीणाझङ्कारकारिणि मातः! अस्मान् विद्याझङ्कारं श्रावय। अयि दिव्ये ! स्वकीयेन दिव्यनादेन कृतार्थान् नः कुरु। अयि जननि! अस्माकं वन्दनां स्वीकुरु।

-आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सम्पादकीय

नव-संवत्सर के शुभागमन की मंगल वेला में मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के जन्मोत्सव के पावन अवसर पर गुरुकुल-पत्रिका का अंक सुधी पाठकों के करकमलों में समर्पित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की यह पत्रिका अपने प्रादुर्भाव काल से अधावधि ५० वर्षों के सुदीर्घ काल खण्ड में उत्तमोत्तम सामग्री पाठकों को प्रदान करती चली आ रही है। इस पत्रिका के सम्पादकों की गरिमामयी पावन परम्परा रही है। समय-समय पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों पर विशेषांकों के प्रकाशन ने इस पत्रिका के गौरव को बढ़ाया है। उसी श्रृंखला में यह अंक भी अत्यन्त सामयिक विषय 'धर्म और संस्कृति' को लेकर उपस्थित है।

धर्म और राजनीति ये दो ऐसे शब्द हैं जिनपर बहुत विस्तार से लिखा पढ़ा गया है। हमारा सम्पूर्ण वाङ्मय धर्म की व्याख्याओं से भरा पड़ा है। भारतीय मनीषियों का धर्म विषयक चिन्तन अद्भुत है। धर्मो रक्षति रक्षितः, धर्मो धारयते प्रजा, धारणाद् धर्म इत्याहुः इत्यादि वचन मानव जीवन में धर्म की महत्ता और आवश्यकता को स्पष्ट करते हैं। मानव धर्म के व्याख्याता महर्षि मनु ने धर्म की व्यापक विवेचना मनुस्मृति में की है। युगनिर्माता महर्षि दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में और वेद भाष्य में स्थान-स्थान पर धर्म का स्वरूप स्पष्ट किया है। भगवद्गीता में योगेश्वर अपने जीवन का ध्येय प्रतिपादित करते हुए कह रहे हैं-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दृष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।

भूमण्डल पर धर्म की स्थापना करना ही महापुरुषों के जीवन का लक्ष्य होता है। धर्म शब्द बहुत व्यापक है। संसार की प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई धर्म अर्थात् स्वरूप अवश्य होता है। अग्नि का धर्म है दाहकत्व, जल का धर्म है शीतलता इसी प्रकार मानव का भी धर्म है। धर्म के इस स्वरूप पर कहीं कोई विप्रतिपात्ति नहीं होनी चाहिए थी किन्तु दुर्भाग्य मानव जाति का कि धर्म और ईश्वर के नाम पर संसार में इतने युद्ध हुए हैं, मानव का इतना रक्त बहा है कि स्मरण कर हृदय कांप जाता है। धर्म के नाम पर अखण्ड भारत का विभाजन हुआ। यह दुष्परिणाम है धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझने का। धार्मिक व्यक्ति कभी दूसरे को दुःख देना नहीं चाहता। वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' को सदैव स्मरण रखता है। धर्म, सम्प्रदाय अथवा मत-मतानन्तर को एक समझ लेने की भूल के कारण यह अनर्थ हुआ है। मानव धर्म तो सबका एक ही है।

धर्म के समान राजनीति शब्द भी बहुत विवादास्पद है। प्रायः यह सुनने में आता है

कि राजनीति भले लोगों का कार्य नहीं है। छल-प्रपञ्च के बिना राजनीति में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, धर्म को राजनीति से दूर रखना चाहिए आदि। स्वतन्त्र भारत में 'धर्म निरपेक्षता', शब्द को सुनकर भी धर्म के विषय में नाना प्रकार की भ्रान्तियां और सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे प्राचीन आर्य-ग्रन्थों, रामायण, महाभारत आदि में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग न होकर 'राजधर्म' का प्रयोग किया गया है। कितना पवित्र और उदात्त भाव है राजधर्म शब्द में। इसमें छल, कपट, असत्य आदि का कोई स्थान ही नहीं है। शत्रु पक्ष को पराजित करने के लिए नीति का आश्रय भले ही किया जाता हो किन्तु प्रजा के साथ राजा का सम्बन्ध पिता-पुत्र का था। इस प्रकार धर्म मानव-मात्र के लिए सर्वदा कल्याणकारी था। राजाओं का जीवन भी अत्यन्त पवित्र था। महाराजा दिलीप, रघु, जनक सदृश अनेकानेक महीपतियों से यह वसुधा शोभायमान रही है। हम सभी देशवासी जिस राम राज्य की कल्पना करते हैं वह रामराज्य धर्म पर प्रतिष्ठित था। विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ने पर भी कभी श्रीराम ने धर्म की मर्यादा नहीं छोड़ी। महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं- 'रामो विग्रहवान् धर्मः' अर्थात् राम तो धर्म के साकार रूप हैं। जब धर्म और राजनीति दोनों का लक्ष्य देश में सुख, शान्ति, ऐश्वर्य की स्थापना है तो परस्पर विरोध कैसा। यह विचारकर मार्च ६८ में 'प्राचीन भारत में धर्म एवं राजनीति' विषय पर एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय शोध संगोष्ठी आयोजित की गयी थी। इस शोध संगोष्ठी में विभिन्न विश्वविद्यालयों से विद्वान प्रतिनिधि पधारे थे। विद्वानों ने अपने वैदूष्यपूर्ण शोध पत्र प्रस्तुत किये थे। उन्हीं शोध-पत्रों में से कुछ पत्र इस अंक में प्रकाशित किये जा रहे हैं। शोध संगोष्ठी का उद्घाटन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा प्रो० शेर सिंह जी ने मुख्य अतिथि के रूप में किया। विषय का प्रवर्त्तन शिक्षा जगत् की मूर्धन्य विदुषी पण्डिता प्रभात शोभा जी ने किया। अध्यक्षीय उद्बोधन के रूप में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सूर्यदेव जी ने धर्म और राजनीति की सुन्दर विवेचना की। विश्वविद्यालय के कुलपति माननीय डॉ० धर्मपाल जी तथा उपकुलपति प्रो० वेदप्रकाश जी ने अतिथियों का भावभीना स्वागत किया।

यह अंक कितना उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक है इसका निर्णय मैं सुधी पाठकों पर छोड़ता हुआ विनम्र निवेदन करना चाहूँगा कि विभिन्न विद्याओं के मर्मज्ञ विद्वान् अपने गवेषणापूर्ण शोध-लेख हिन्दी और संस्कृत भाषा में हमारे पास भेजते रहें। हम ऐसे सुन्दर, सुरुचिपूर्ण लेख प्रकाशित कर गौरवान्वित होते रहेंगे। पुनः नव वर्ष की मंगल कामनाओं के साथ यह विशेषांक सादर समर्पित है।

प्रो० महावीर
सम्पादक
गुरुकुल पत्रिका

संस्कृतसाहित्ये धर्मस्य राजनीतेश्च परस्परैकरसता

डा० हरिगोपालशास्त्री
प्राचार्यः, गुरुकुलमहाविद्यालयः ज्वालापुरम्
हरिद्वारम्-२४९४०४ (उ०प्र०)

इदं नाम सहृदयैः सर्वैरपि विद्वद्भिः विचारणीयं विचार्य च अङ्गीकर्तव्यम् यत् यावन्तो व्यापाराः क्रिया-कलापा वा सोद्देश्या एव प्रवर्तन्ते। राजशासनपद्धतिरपि तासु समासु क्रियासु काचिद् एका क्रिया, तयाऽपि सोद्देश्यया सफलया च भवितव्यम्। क्रियाणां स्वरूपाणि तावद् अन्यानि अन्यानि भवन्ति। कृषि-वाणिज्य-विविधोद्योगात्मिका क्रिया ऐहिक-प्रयोजना भवन्ति। तासु च सम्यक् अनुष्ठितासु प्रचुरं व्रीहियवादिलाभः द्रव्यादिलाभश्च प्रत्यक्षमनुभूयते। उक्तं च "नाकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते न च श्रूयते।" इति दिशा सर्वाऽपि क्रिया केनचिद् परोद्देश्येनैव अनुष्ठीयन्ते। पारलौकिक्योऽपि यज्ञ-दान-तपोऽनुष्ठान-शास्त्रपरिशीलन-उपनिषदादि श्रवणं मोक्षार्थिभिः अभ्यस्यमाणः मोक्षाय कस्मैश्चिद् महते वा श्रेयसे कल्पन्ते, अत्र नास्ति संशीतिलेशावसरः इति।

इत्थमेव प्रजापालन-शासनपद्धतयोऽपि विविधा राजनीतिशास्त्रे अन्यत्र वा शास्त्रशरीरे समवलोक्यते। चिरात् समतीते काले राजशासनानुसारेण राजतन्त्रानुसारेण च प्रजासु एकस्मिन् देशे एकस्य कस्यचिद् सैन्यद्रव्यादिप्रचुर-साधनसम्पन्नस्य प्रभुत्वमभूत्। स यत् वाञ्छति तदैव करोतिस्म। कदाचित् च एवंविधे शासने निरंकुशतायां वर्तमानः कश्चन शासकः प्रजासु अन्यायम् अहितम् अपि कर्तुं शक्नुयात्। यतो हि प्रभुता-मदम् अभिमानं च समुद्पादयति, तथा सति अहितम् आददानि कस्मिश्चिद् राजनि प्रजाविषादं अनेकविधं दुःखमपि अनुभवितुम् अर्हति।

चिरमतीतेषु वर्षेषु सर्वामपि अपेक्षितां मर्यादां विहाय विषयवासनासु प्रसृतमतयः राजानः बहुविधानि प्रजालुण्ठनादीनि अकार्याणि अन्यायानि समन्वतिष्ठन्। अयं खलु शाश्वतिकः सिद्धान्तः यद् समस्या समाधानं गवेषयति। एवंविधेभ्यः निरंकुशेभ्यः शासकेभ्यः आत्मनस्त्राणाय कैश्चन मनीषिभिः प्रजातन्त्रपद्धतेराविष्कारः कृतः। अनयाऽपि सरण्याः प्रजया यादृश-सुखस्य समृद्धेः न्यायस्य च अपेक्षा कृता सा न खलु सफला सकला च परिदृश्यते। अत्र च प्रज्ञावद्भिः महद्भिर्महानुभावैः यथा चैवविधैः पूर्वमहानुभावैः राज्यपालन-धर्मपालन-सदाचार-संरक्षणादिषु केचन सारगर्भिताः सिद्धान्ताः निश्चिताः, मन्वादिभिर्मनीषिभिः येन मार्गेण वर्णाश्रमादि

निर्णय: तत्र च अवश्यं वर्णाश्रमानुसारेण अनुष्ठेया धर्मा निर्दिष्टा, तथैव यावद्भिः तत्त्वदर्शिभि: हरिश्चन्द्र-भगीरथ-दिलीप- दशरथ-युधिष्ठिर-जनमेजय-प्रभृतीभि: ते वर्णिता आदर्शा अतीव विनयभावेन प्रजासु वात्सल्येन च यावता पालिता संरक्षिता वर्धिताश्च तावता प्रजासु सर्वत्र सुखस्य शान्ते: समृद्धेश्च निवासोऽभूत्, एवंविधया प्रजाशासनरीत्या महत् सम्मानं समादरोऽपि तैरन्वभूयत यतो हि ते शास्त्रद्रष्टार: अभवन्। धर्मशास्त्रस्य नीतिशास्त्रस्य दर्शनशास्त्रस्य अन्येषामपि प्रसिद्धानां समेषां शास्त्राणां सम्यग् ज्ञानम् तेषाम् अभूत्। शास्त्रमर्यादया वर्तमानानां अकल्याणस्य चर्चैव न भवति। किन्तु इदानींतने काले सर्वमपि विपरीतं जातम्। ते तु वदन्ति राष्ट्रे धर्मस्य चर्चाऽपि न कर्तव्या, ते च अहर्निशं '***धर्मनिरपेक्षता***' इति शब्दं मुहुर्मुहुरटन्त: धर्मनिरपेक्षताशब्दस्य स्वमपि अर्थमजानाना तदा अस्य शब्दस्य अर्थं परान् कथं बोधयेयु:। इमे खलु ज्ञान-दुर्बला शिष्टाचार-दरिद्रा इदमपि न जानन्ति यथास्मिन् लेखे पूर्वं संकेतितं यत् सर्वाऽपि क्रिया सफला भवति। प्रजाशासन-क्रियया सत्स्वपि गौणेषु अन्येषु प्रयोजनेषु मुख्यं तावत् प्रयोजनं धर्मस्य प्रचारणं प्रसारणमेव। उक्तं च भगवता-

"***धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित:***" (मनु ८/१५)

प्रजानां परिपालनं राज्ञां धर्म:। इयं धार्मिकी व्यवस्थैव राजधर्म: राष्ट्रधर्म: राजनीतिर्वा कथ्यते। धर्मस्य रक्षा प्रजानां रक्षा। धर्मस्य नाश: प्रजानां विनाश:। वयं तु अनुभवाम: यदि मे स्वल्पं सुखं अन्याय जनितं अनुभवन्त: आगामि महादु:खगर्तपातं विवेकान्धत्वेन पश्यन्ति। यदि पश्येयु: कथं सदाचारं परित्यजेयु:।

भगवता सर्वज्ञेन मनुना महाराजेन श्रीमुखेन समुद्घोषितं यद्- "***वेदोऽखिलो धर्ममूलम्***" वैदिको हि धर्म: केवलं धर्म अन्यस्तु अधर्मेव। शास्त्रज्ञानमन्तरा स्वेच्छया समाचारिता तथाविधा आचारा विचाराश्च नैवाहिकाय नवामुष्मिकाय च सुखाय भवेयु:। तर्कशास्त्रेऽपि महामुनिना कणादेन सम्यग् उक्तम्- "***यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस् सिद्धि: स धर्म:***" अस्मिन खलु सूत्रे अखिलमपि सिद्धान्तं रहस्यं च सम्यग् गुम्फितम्, '***परनित्यान्तरङ्.गापवादानाम् उत्तरोत्तरं बलीय:***' इति न्यायेन यथा व्याकरणशास्त्रे पूर्वशास्त्रार्थं परशास्त्रं बलवत् तथा सूत्रं '***विप्रतिषेधे परं कार्यम्***' पदादपि अन्तरंगं बलवत् अन्तरङ्गात् अपि चापवादम्। तथैव धर्मरक्षणे धर्मनि:श्रेयसोर्मध्ये नि:श्रेयस: बलवत्त्वम्। निश्रेयस् शब्देन शान्ति:, वैराग्यं ज्ञानं भक्ति: इति सर्वमपि संगृहीतम् भवति। इमा खलु सर्वाऽपि धर्मस्यैव शाखा प्रशाखा। यदि च राजा यस्मिन् शासने न प्रसीदति अपितु विषीदति, अनेकविधानि च कष्टानि अनुभवति तदेव शासनं कुशासनं गीयते।

इदमेव इदानीमपि भवति, यतो हि राजा धर्मदण्डं गृहीत्वैव आत्मानं प्रजां च रक्षितुं शक्नोति। अमीषां अविवेकिनां तथाकथित-शासकानां धर्मनिरपेक्षताकुमन्त्रे धर्मदण्डस्य कथैव न भवति। तस्याभावेन च यस्मै यद् यद् रोचते तत् तत् स्वैरितया समाचरति। किम्बहुलम्, प्रोज्झित-धर्माणां मानव-पशूनां आहारव्यवहारविषये पशुभ्यो व्यतिरेको न संतिष्ठेत्। तेन च मानवतायाः सर्वथा ह्रासैव परिलक्ष्यते। सुखं शान्तिश्च तदैव समुन्मिषेत् यदा च धर्मशास्त्रानुसारेण शासनं भवेत्। उक्तं च भगवता श्रीकृष्णेन-

"***तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते***"

अपि च महाराजेन मनुनाऽपि कथितम्-

"***सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।***
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।"

-मनु० ७/५४

अनेन स्पष्टं ज्ञायते यद् धर्मशिक्षाविधुरा राजनीति विधवैव भामिनी, अमंगलायैव कल्पेत। तथा च धर्मनिरपेक्षता वदतां मुखमुद्रणाय सर्वैरपि बद्धपरिकरैर्भाव्यम्। धर्मविहीनाया राजनीतेः कुत्रापि कथा नास्ति। अन्तरानेन कथमपि देशस्य कल्याणं भवितुं नार्हति।

वैदिक जीवन दर्शन

डॉ0 महावीर,
एम0ए0 (वेद,संस्कृत,हिन्दी) डी.लिट्.व्याकरणाचार्य
प्रोफेसर एवं निदेशक वैदिक शोध संस्थान,
गुरुकुल कांगड़ी वि0वि0,हरिद्वार

वेद मानव-मात्र को जीवन के कल्याण का श्रेष्ठतम मार्ग दिखाने वाला पवित्रम ज्ञान है। वेदों में वह जीवन दर्शन प्रतिपादित किया गया है, जो मानव की आसुरी वृत्तियों को दूर कर दैवी वृत्तियों का जागरण करता है। वेद संसार के कोटि-कोटि मानवों को सम्बोधित करते हुए कह रहा है-

"शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः" हे अमृत पुत्रों ! सबके सब सुनो ।

अमृत पुत्र कहकर सम्बोधित कर वेद हमें जीवन का सच्चा सुख अथवा आनन्द प्रदान करने वाला जीवन दर्शन सुनाना चाहता है। हम जीवन और जगत् को किस रुप में देखें,ताकि संसार के सत्य का साक्षात्कार कर सकें। सारी भ्रान्तियाँ, समस्त सन्देह दूर हो जायें, सब प्रकार के भेद-भाव मिट जायें और विश्व-मानव एकत्त्व प्राप्त कर लें। आज सारा संसार विभिन्न धर्मो ,विभिन्न जातियों,नाना प्रकार के मत-मतान्तरों और धाराओं मे बँटा हुआ है। परन्तु वेद की दृष्टि में संसार के सभी मानव एक हैं। जैसे उस ईश्वर के बनाये सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश, बादल, वर्षा, वृक्ष, वनस्पति सबके लिए हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए हैं।

वैदिक दर्शन का मूलभूत विचार यह है-'प्रकृति है, परन्तु प्रकृति ही सब कुछ नहीं है, प्रकृति के पीछे आत्मतत्त्व है, जिसे कुछ लोग परमात्मा कहते हैं। शरीर है, परन्तु शरीर ही सब कुछ नहीं, शरीर के पीछे आत्मतत्व है, वही तत्व जिसे कुछ लोग जीवात्मा कहते हैं।[१] वेद का चिन्तन त्यागवादी है न कि भोगवादी। संसार के भोग्य पदार्थों को देखकर आँखें बन्द करना उचित नहीं, संसार को भोगो, परन्तु त्यागपूर्वक, संसार में रहो, परन्तु निर्लिप्त होकर, निस्संग होकर पानी में कमल-पत्र की तरह, घी में पानी की बूँद की तरह। भोग और त्याग का समन्वय भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मेल वैदिक दर्शन का मूलाधार है।

आत्मज्ञान : वैदिक जीवन दर्शन की उत्कृष्ट अवस्था है- आत्म ज्ञान अथवा आत्म दर्शन। बृहदारण्यक उपनिषद में ऋषि याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी के मनोरंजक संवाद में इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं- 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'[२]

---

१. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार-'वैदिक संस्कृति के मूल तत्व' पृ० सं०-२०
२. बृहदारण्यकोपनिषद्-२।४।५

आत्मा के सम्बन्ध में यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि 'तू सबकी नाप और सबकी कसौटी है।'[१]

आत्मदर्शी व्यक्ति के लिये भेद की सब दीवारें ढह जाती हैं और वह सब प्राणियों में एक ही आत्म-तत्व के दर्शन करता हुआ सबमें समभाव रखकर लोकोपकार में प्रवृत्त होता है।[२]

परमात्म सत्ता : जैसे शरीर में चेतनता देखकर, उसमें किसी आत्म-सत्ता का विचार उठता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड में एक नियामिका तथा व्यवस्थापिका शक्ति की प्रतीति एक विश्वात्मा की सत्ता को सिद्ध करती है। उस परम-सत्ता पर अटूट विश्वास और ईश्वर संसार के कण-कण में व्याप्त है, प्रत्येक प्राणी के अच्छे बुरे सभी कर्मों को वह देखता है, यह मानकर सदा शुभ-कर्म करना यह वैदिक दर्शन का सार तत्व है। यजुर्वेद में कहा है- 'योगी उसे देखता है जो हृदय-गुहा में छिपा है।[३] वेद में स्थान-स्थान पर ईश्वर को विश्व का पिता, माता, भ्राता, सखा, बन्धु एवं जनिता कहा गया है। वेद-मन्त्रों में परमात्मा के विविध गुणों और शक्तियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। परमात्मा की अनुभूति से आत्मा की नैतिक भावना प्रखर हो जाती है।

वैदिक आस्तिकवाद की एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक आत्मा का परमात्मा के साथ सीधा सम्बन्ध है। मेरे और मेरे परमात्मा के बीच में कोई मध्यस्थ नहीं। जब परमात्मा मेरे हृदय में है तो वह अन्य किसी की अपेक्षा मेरे अधिक निकट है- 'तू हमारा है, हम तेरे हैं।'[४]

कर्म सिद्धान्त : वैदिक जीवन दर्शन का एक प्रमुख अंग है- कर्म सिद्धान्त, मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसको उस कर्म का वैसा ही फल प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त को मान लेने पर मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति शुभकर्मों की ओर हो जाती है। वेद में कहा है कि मनुष्य जैसा पकाता है वह पकाने वाले को वैसा ही प्राप्त होता है।[५]

ब्रह्म साक्षात्कार या मोक्ष : वैदिक दर्शन में मानव जीवन का परमलक्ष्य मोक्ष माना गया हैं मुक्ति वह अवस्था है जिसमें मनुष्य सब वासनाओं को त्यागकर पूर्ण काम हो जाता है और सब प्रकार के कष्ट-क्लेशों से दूर विशुद्ध, दिव्य आनन्द के महासमुद्र में हिलोरें लेने लगता है। परमपिता परमेश्वर मुक्त स्वभाव है, उनकी ज्ञान-बल-क्रिया स्वाभाविक है। प्रभु

---

१. सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि। यजु० १५।६५
२. यजु० ४०। ६, ७
३. वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सत्। (यजु० ३२ । ८)
४. त्वमस्माकं तव स्मसि (ऋग्० ८।९२।३२)
५. आ यो धर्माणि प्रथमः संसाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरुणि।
धारयुर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत।।अथर्व० ५।१।२

निर्विकार हैं, एकरस एवं आनन्दस्वरूप हैं। इसके विपरीत मनुष्य की मुक्ति परिश्रम-साध्य है, स्वभाव-सिद्ध नहीं। मनुष्य यज्ञ, योग एवं उपासना आदि के द्वारा जितना-जितना परमात्मा का सामीप्य प्राप्त करेगा, उतना ही अधिक आनन्द का अनुभव करेगा। मुक्ति की दशा में जीवात्मा-परमात्मा का अत्यन्त सामीप्य होता है। यजुर्वेद में कहा गया है-

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।। यजु० ३१।१८

अर्थात् मैंने इस परमात्म देवरूप पुरुष को जान लिया है जो महान् है, सूर्य जैसा तेजस्वी है और अन्धकार से परे है। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को जीत सकता है। अमरता की ओर जाने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

इस प्रकार वैदिक जीवन दर्शन के केन्द्रीभूत विषय है परमात्मा, आत्मा, प्रकृति, कर्मफल, मोक्ष, ऋत एवं सत्य। इनके अतिरिक्त भी ऐसे महत्वपूर्ण बिन्दू हैं, जिन पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

समत्व भावना : वेद के अनुसार सब मनुष्य भाई-भाई हैं, जन्म से न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। इस समानता के भाव को धारण करते हुए हम सब ऐश्वर्य या उन्नति के लिए मिलकर प्रयत्न करें।

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।" ऋग्० ५।६०।५

एक ऋचा में कहा गया है "सब चलने वालों का मार्ग पर समान अधिकार है।"

समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे।"ऋग्० २।१३।२

ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त (१०।१८) समता का अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन प्रस्तुत करता है-

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

अर्थात् हे मनुष्यों ! आप लोग परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहो। परस्पर मिलकर प्रेम से बातचीत करो। विरोध छोड़कर एक समान वचन कहो। आप लोगों के मन एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार पहले के विद्वज्जन सेवनीय और मनन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुए अच्छी प्रकार उपासना करते रहे हैं, उसी प्रकार आप लोग

भी ज्ञान-सम्पन्न होकर सेवनीय अन्न का सेवन एवम् उपासनीय प्रभु की उपासना करो। आप सबका वचन और विचार एक समान हो। सबका चित्त एक दूसरे के साथ मिला हो। मैं आप लोगों को एक समान विचारवान् करता हूँ। आप लोगों के संकल्प और भाव एक समान रहें। आपके हृदय एक समान रहें। आप लोगों के मन समान हों, जिससे आप लोगों का परस्पर का कार्य सदैव सहयोगपूर्वक भली भांति हो सके।

प्राणिमात्र में मित्र दृष्टि : वैदिक ऋषि सम्पूर्ण संसार को मित्रता की दृष्टि से देखने का संदेश देते हैं। वेद कहता है-

"मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षमहे।" यजु० ३६।१८

अथर्ववेद में गौओं, जगत् के अन्य प्राणियों एवं मनुष्यमात्र के कल्याण की कामना की गयी है-

"स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।" (अथर्व १।३१।४)

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है-

प्रभु हमारे दोपाये और चौपाये पशुओं के लिए कल्याणकारी और सुखदायी हो-

"शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।" (यजु० ३६।८)

अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थल पर कामना की गयी है कि भगवन्! ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रख सकूँ-

यांश्च पश्यामि यांश्च न, तेषु मा सुमतिं कृधि। अथर्व० १७।१।७

सौमनस्य की भावना :

वेदमन्त्रों में सभी जनों में समभाव, परस्पर सौहार्द की भावना व्यक्त की गयी है। यह अभिलाषा प्रकट की गई है कि परिवार के सभी सम्बन्धी प्रेम-पूर्वक मिल-जुलकर रहें, क्योंकि समाज का मूल परिवार ही है। सब एक दूसरे से मधुर-वाणी में बोलें और सबके मन एक-समान हों। उनमें एक-दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति हो। यह सौमनस्य प्रत्येक काल में रहे, जिससे समाज में कलह न हो और सब कार्य सुचारू रूप से चलते रहें, इसी से राष्ट्र उन्नति और समृद्धि को प्राप्त होता है। आज के स्वार्थपरक युग में स्नेह और सौहार्द का यह सन्देश और भी आवश्यक है। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।

आदि मन्त्रों में यह भावना उत्कृष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है।

मानव कल्याण की भावना :

ऋग्वेद संसार को सन्देश देता है कि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य की सब प्रकार से रक्षा और सहायता करनी चाहिए।

"पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' (ऋग्० ६।७५।१४)

अथर्ववेद में भी कहा है कि आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो-

"तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः"। अथर्व० ३।३०।४

ऋग्वेद कहता है-

"सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव"। ऋग् ६।१०५।५

मित्र जिस प्रकार मित्र का सहायक होता है वैसे ही तू सब मानवों का हित करने वाला बन और उनका तेज बढ़ा।

वेद की दृष्टि में ऋषि वही है जो मनुष्यों का हितकारी है-

ऋषिः स यो मनुर्हितः। ऋग् १०।२६।५

ऋत और सत्य की भावना :

वैदिक जीवन दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है- ऋत और सत्य। बाह्य जगत की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमों में परस्पर विरोध न होकर एकरूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को 'ऋत' कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सबका आधार 'सत्य' है। वेद में 'ऋत' और 'सत्य' की महिमा का हृदयाकर्षक वर्णन अनेक स्थानों पर पाया जाता है। यथा-

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः।।
ऋतस्य दृष्ट्वा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वप्रषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन माव ऋतमा विवेशुः।। (ऋग् ४।२३।८-९)

अर्थात ऋत अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है। ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है। मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देने वाली ऋत की कीर्ति बहिरे कानों में भी पहुँच चुकी है। ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं, विश्व के नाना रमणीय पदार्थो में ऋत मूर्तिमान हो रहा है। ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थो की कामना की जाती है। ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियां जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती है।

इसी प्रकार वेद सत्य की महिमा से भरा पड़ा है। वेद-मन्त्रों में कहा गया है कि जिस प्रकार द्यु-लोक का धारण बाह्य लोक से सूर्य द्वारा हो रहा है वैसे ही वास्तविक रूप में इस भूमि का धारण सत्य के आश्रय से ही हो रहा है-

'सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।' ऋम्० १०।८५।१

अर्थर्ववेद के भूमि-सूक्त में भी पृथिवी के धारण करने वाले पदार्थो में सर्वप्रथम सत्य का ही परिगणन किया गया है-

सत्यं बृहदृमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। अथर्व० १२।१।१

यजुर्वेद में कहा गया है कि सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपों को देखकर पृथक्-पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही है। अश्रद्धा की अनृत या असत्य में है।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।। यजु० १६।७७

भद्र-भावना :

वैदिक मन्त्रों की एक दूसरी विशेषता उनकी भद्र-भावना है। यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय-लोलुप या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्श हीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है। मानव को परमोच्च देव-पद पर अधिष्ठित कराने वाली भद्रभावना वैदिक प्रार्थनाओं में पदे-पदे देखी जा सकती है।

जैसे- आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सद्मिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे-दिवे।।

यज्ञमय जीवन की कामना :

वेद-मन्त्रों में यज्ञीय जीवन जीने की प्रेरणा स्थान-स्थान पर दी गयी है। वेद कहता है-

उतिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुःप्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय।। अथर्व० १८।६३।१

हे वेद-पाठ के देवता ! उठो, देवताओं को यज्ञ का सन्देश सुनाओ। आयु, प्राण, प्रजा, पशु और कीर्ति की वृद्धि करो और यज्ञकर्त्ता को हर प्रकार से बढ़ाओ।

इयं ते यज्ञियाः तनूः (यजु० ४।१३)

तेरा शरीर प्रभु प्राप्ति के लिए है।

ईजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् (अथर्व० १८।४।२)

यज्ञमय और योगमय जीवन का सन्देश वेदमाता इस प्रकार देती है-

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।

मान्तः स्थुर्नो अरातयः ।। ऋग्० १०।५७।१

हे ऐश्वर्य सम्पन्न प्रभो ! शान्ति तथा ऐश्वर्य के अभिलाषी हम सुपथ से कभी भी विचलित न हों। हम यज्ञमय जीवन से कभी पृथक् न हों। अदान-भावना तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि शत्रु हमारे भीतर न रहें।

वेद कहता है-

उत्क्रामातः पुरुष मावपत्था मृत्योः षड्वीशमवमुच्यमानः। अथर्व० ८।१।४

हे पुरुष ! उठ खड़ा हो, आगे बढ़, उन्नति कर, नीचे मत गिर, अवनति की ओर मत जा। यदि मृत्यु भी तेरे मार्ग में आकर खड़ी हो जाए तो भी परवाह मत कर, मौत की बेड़ियों को काटता हुआ आगे बढ़।

इस प्रकार वेद प्रतिपादित जीवन दर्शन, मानव मात्र को कल्याण और परमानन्द का सुमार्ग प्रतिपादित कर विश्व में सुख, शान्ति और विश्व बन्धुत्व की गंगा प्रवाहित करता है।

● ● ●

महाभारत में धर्म और राजनीति

डॉ० विक्रम कुमार
प्रोफेसर, दयानन्द शोधपीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ।

धर्म :

महाभारत में इतिहास, धर्मशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र का त्रिवेणी रूप में अद्भुत संगम दृष्टिगोचर होता है। विषयवस्तु व घटनाओं की दृष्टि से जहाँ यह महाकाव्य इतिहास है वहाँ प्रसंगवश धर्म एवं राजनीति भी यत्र-तत्र चर्चित हुई है। इस ग्रन्थ का अन्तःसाक्ष्य इसे धर्मशास्त्र का नाम देता है- धर्मशास्त्रमिदं महत्।[१] धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।[२]

संस्कृत साहित्य में धर्म विषयक एवं राजनीति विषयक भिन्न-भिन्न शास्त्र उपलब्ध होते हैं। परन्तु महाभारत पुरुषार्थचतुष्टय को ही स्वयं में समेटे हुए हैं, यह सत्य है। धर्म-शास्त्रों में धर्म का अभिप्राय मुख्य रूप से उदात्त मानवीय आधार तथा कर्त्तव्य हैं। "धृ" धातु से निष्पन्न धर्म शब्द का अभिप्राय उन गुणों व लक्षणों से है जो किसी भी वस्तु के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। अतः मानव को मानव बनाये रखने वाले समस्त गुण ही मानव-धर्म हैं जो सार्वकालिक व सार्वदेशिक हैं। मनुष्य को अभिलषित अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त कराने में सहायक साधन भी धर्म हैं। वे आचार व व्यवहार भी जो उदात्त एवं उत्थापक होते हुये सर्वमान्य व सर्वप्रतिष्ठित हैं, धर्म के ही अंग हैं जिसकी ओर छान्दोग्य उपनिषत्कार ने संकेत किया है- त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।[३]

महाभारत के शान्तिपर्व में धर्म एवं राजनीति की विशद चर्चा है। बड़े भाई कर्ण की मृत्यु से शोकाभिभूत युधिष्ठिर को व्यास मुनि ने यह परामर्श दिया कि उन्हें पहले राजा या शासक के धर्म का पालन करना चाहिये तत्पश्चात् जीवन के संन्ध्याकाल में ही यतिधर्म का अनुपालन करना चाहिये। व्यास के परामर्श पर ही युधिष्ठिर ने शरशय्याशायी भीष्म पितामह के पास चारों भाई व श्रीकृष्ण सहित जाकर धर्म एवं राजनीति सम्बन्धी प्रश्न किये। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को जो उत्तर एवं उपदेश दिया वह शान्तिपर्व में पूर्णतया उपलब्ध होता है। विषयवस्तु की दृष्टि से शान्तिपर्व दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध में राजधर्म का वर्णन है तथा उत्तरार्ध में मोक्ष का। चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों के कर्त्तव्य,

---

१. आदिपर्व २, ३८३
२. वही ६२, ५३
३. छान्दोग्य उप. २. २३. ।

माता-पिता एवं गुरु के प्रति कर्त्तव्य, आपद्धर्म, आत्म-संयम, यतिधर्म, सत्य-पालन तथा जीवन के प्रतिं तीनों पुरुषार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध आदि विषय इस पर्व में विवेचित हुये हैं। यहाँ बताया गया है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए संन्यास जितना सहायक तथा विश्वसनीय मार्ग है उतना ही गृहस्थ व शासक द्वारा स्वधर्म का पालन करते हुए निष्काम बुद्धि से अपने दायित्व को पूर्ण करने का मार्ग भी मुक्ति के लिए सहायक है।

इस पर्व में विशेषतः धर्म तथा राजनीति की ही शिक्षा विस्तार से मिलती है। पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म का सर्वप्रथम स्थान है। शान्तिपर्व में उल्लिखित है कि अर्थ व काम से धर्म उत्तम है।

> धर्मो राजन् गुणश्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
> कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः।।४

जीवन में व्यवहार-संचालन एवं प्रजोत्पत्ति के लिए आवश्यक अर्थ व वाञ्छित काम का भी महत्व है। सुपरिष्कृत कामसुख की सिद्धि अर्थ के बिना कठिन है, अतः अर्थ विषय सुख का अनिवार्य साधन है और अर्थ धर्म के बिना सुस्थिर नहीं रह पाता। इसलिए शान्तिपर्व में कथन है-

> धर्मं समाचरेत्पूर्वं तथार्थं धर्मसंयुतम्।
> ततः कामं चरेत्पश्चात् सिद्धार्थस्य हि तत्फलम्।।५

अर्थ और काम को धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से निम्नकोटि का मानते हुये धर्ममूलक अर्थ एवं काम के महत्त्व को विद्वानों ने स्वीकारा है। अतः शान्ति पर्व में उल्लेख है कि जो मानव इन तीनों को समान रूपेण सेवन करता है वही उत्तम है-

> धर्मार्थकामाः सममेव सेव्यास्त्वेकसेवी स नरो जघन्यः।
> द्वयोस्तु दक्षं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो यो निरतस्त्रिवर्गे।।६

परन्तु तीनों को समान महत्व देकर व्यावहारिक जीवन को जीने के संदेश के साथ-साथ महाभारतकार धर्म के पलड़े को अर्थ और काम से भारी ही मानते हैं-

> धर्मश्चार्थश्च कामश्च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
> अस्मिंल्लोके परे चैव धर्मवित्सुखमेधते।।७
> धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः।।८

---

४. शान्तिपर्व १६१-८ | ५. वही १६१.२६
६. शान्तिपर्व १६१.३८ | ७. शान्तिपर्व ६२.४८
८. शान्तिपर्व २६७.६

संसार में धर्म से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। जहाँ धन में सुख का अंशमात्र है वहाँ धर्म परमसुखकारक है-

धर्म एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः।९
धने सुखकलाकाचिद् धर्मे तु परमं सुखम्।।१०

तीनों लोकों के जन धर्मपूर्वक आचरण के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं-

धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः।११

ऋषिजन धर्म का अवलम्बन पाकर ही संसार सागर को तैर जाते हैं। समस्त लोक इसी पर प्रतिष्ठित है। धर्म के द्वारा ही देवताओं ने स्वर्ग को प्राप्त किया है। अर्थ=धन यदा समस्त प्रयोजन भी धर्म में ही स्थित है-

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेणदेवा दिविष्ठा धर्मे चार्थः समाहितः।।१२

शान्तिपर्व में धर्म का तात्पर्य कोई मन्तव्य विशेष अथवा संस्थागत कोई कर्मकाण्ड-पूजा पद्धति विशेष यद्वा किसी व्यक्ति विशेष के प्रति अन्धश्रद्धालु होना नहीं है। अपितु जीवन प्रणाली एवं आचार विशेष है, जो समाज के सदस्यों का, उसके व्यवहारों, कार्यों तथा गतिविधियों का नियमन करता है। जो धारण करता है वही धर्म है-

धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मेण विधृता प्रजा:।
य: स्याद् धारणसंयुक्त: स धर्म इति निश्चय:।।१३

अभ्युदय से तात्पर्य सांसारिक लौकिक, भौतिक पदार्थों की उन्नति है तथा नि:श्रेयस से अभिप्राय पारलौकिक, आगामी जन्म एवं मोक्ष-प्राप्ति आदि की उन्नति। प्राय: लौकिक व पारलौकिक उन्नति में विरोध प्रतीत होता हैं परन्तु यहाँ दोनों प्रकार की उन्नति में समन्वय का दर्शन होता है। धर्म ही एक मात्र ऐसी सीढ़ी है जिसके द्वारा दोनों प्रकार की उन्नति सुगमता से हो जाती है। भीष्म पितामह के अनुसार मूलमन्त्र है- पारस्परिक सद्व्यवहार। जो व्यवहार हमारे लिए प्रतिकूल है वह व्यवहार हमें अन्यों के साथ नहीं करना चाहिए। जैसा व्यवहार हम अपने प्रति अन्यों से चाहते हैं वैसा ही व्यवहार हमें अन्यों के प्रति भी करना चाहिए। व्यवहार का यह स्वरूप धर्म का सर्वस्व है। इसे समानता का भाव भी कहा जा सकता है। धर्म का यह सामान्य एवं मूलभूत सिद्धान्त समाज के लिए सामंजस्य और

---

९. शान्तिपर्व २७६.६   १०. शान्तिपर्व २६३.५५
११. शान्तिपर्व २६७.६   १२. शान्तिपर्व १६१.७
१३. शान्तिपर्व ११०.११

सद्भाव का सूत्र बन जाता है। सबके सुख-दुख हमारे हैं इस तथ्य को हृदयंगम कर सबके साथ अनुकूल व्यवहार करना धर्म का सामाजिक तथा व्यक्तिगत स्वरूप है।

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पुरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्न प्रियमात्मनः।।१४

प्राय: जीविका अर्जन करते समय ही प्राणी से अधर्म का आचरण हुआ करता है। अधर्म एवं असत्य मार्ग के आश्रय के बिना आजीविका चलाना या भौतिक उन्नति कर पाना असम्भव समझा जाता है। परन्तु महाभारतकार इस मान्यता से असहमत हैं। उनका कथन है- जीवों से द्रोह न करके जीविका का निर्वाह किया जाता है, वही परम धर्म है। विश्व में सब प्राणियों से मित्रता का व्यवहार करते हुये, मन वचन, कर्म से सबके हित का कार्य करना ही धर्म है-

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले।।
सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणामनसा वाचा स धर्म वेद जाजले।। १५

धर्म के लक्षण प्रसंग में शान्ति पर्व के कुछ कथन संग्राह्य एवं संप्रेरणीय हैं-

नास्ति सत्यात् परो धर्मः। शा.प. १५७.२४
अंहिसैव हि सर्वेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता। शा.प. २५७.६
दमेन सदृशं धर्म नान्यं लोकेषु शुश्रुम। शा.प. १५४.१०
दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चयदर्शिनः। शा.प. १५४.७
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते। शा.प. १५४.११
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः। शा.प. ११०.१०
न हर्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः। शा.प. २५६.१२

अनेकधा सांसारिक व्यवहारों के आचरण के समय धर्म के विषय में निर्णय करना अति कठिन होता है। बहुधा मिथ्या व्यवहार और हिंसा आदि अधर्मात्मक कार्यों को विशेष अवस्थाओं में लोग धर्म-रूप होने पर प्रमाणों की आवश्यकता होती है। अत: महाभारतकार सदाचार, स्मृति, वेद एवं अर्थ-प्रयोजन को धर्म के प्रमाण यद्वा लक्षण स्वीकार करते हैं-

---

१४. शान्तिपर्व २५१.१६
१५. शान्तिपर्व २५४.६, ६
१६. अन्य श्लोक भी द्रष्टव्य हैं। शा.प. १२.१६, २१.११, ३७.७, १३०.१५, १४८.६-७, १६१.५, १५४.६-१६, १५५.१, ४, ५, ६, १३, २६७.१३-१४

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम्।।१७

धर्म के निर्णय के लिए प्रमुख प्रमाण वेद हैं पुनः स्मृतियां, तत्पश्चात् सत्पुरुषों, सात्त्विक जनों के आचार, अर्थ व कर्म का प्रयोजन-किस प्रयोजन के लिए कर्म का आयोजन किया जा रहा है इसे भी धर्म के निर्णय में प्रमाण माना है। यदि उचित प्रयोजन के लिए कर्म है तो वह भी धर्म है। धर्म के सम्बन्ध में मतभेद होने पर महान् व्यक्तियों के मार्ग को ही उचित माना जाता है-

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था।१८

शान्तिपर्व में वर्णित है- धर्मनिर्णय के विषय में कोई संशय उत्पन्न होने पर दक्षवेदशास्त्रज्ञाता अथवा धर्मशास्त्रवेत्ता पण्डित जो व्यवस्था देवें उसे ही धर्म स्वीकार करना चाहिए।

दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।
यद् ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये।।१६

इस प्रकार महाभारत में धर्म का विशद वर्णन उपलब्ध है जो मानव जाति के समस्त वर्गों, अशिक्षित, अर्धशिक्षित, शिक्षित एवं प्रशिक्षित जनों के लिए मार्ग प्रदर्शक है। आज की वारांगनेय राजनीति की हुल्लड़बाजी के वातावरण में धर्म को राजनीति से बहिष्कृत करने के जो ढिंढौरे पिटे जा रहे हैं वह सर्वथा निन्दनीय एवं स्वार्थ प्रेरित है। राजनीति धर्म के बिना अन्धी होती है। धर्म उसे दृष्टि प्रदान करता है और जब पतनोन्मुख राजनीति मार्गभ्रष्ट होकर समग्र प्रजा को लीलने लगती है तब इसी दृष्टि को पाकर वह राजनीति "राजधर्म" बन जाता है जिसकी छत्रछाया में किसी भी प्रकार की अनिष्ट की आशंका नहीं रहती।

राजनीति :

महाभारतकार इसी राजधर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं यदि राजधर्म को राष्ट्र से तिलांजली दे दी जाती है तो त्रयी विद्या समुद्र में डूबने लगती है, सभी आश्रमों के धर्म विरूद्ध होने लगते हैं-

मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्मा च भवेयुर्विरुद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां गताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे।।२०

यदि राजधर्म स्खलित होने लगे तो अन्य प्रजाओं के सभी धर्म शिथिल होकर विचलित होने लगेंगे। जैसे लगाम घोड़े को व अंकुश हाथी को नियन्त्रण में रखने वाला है वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों को यथायोग्य नियमों में निबद्ध रखने वाला यही राजधर्म ही है-

---

१७. शान्तिपर्व २५१.३ १८. .
१६. शान्तिपर्व ३७.१५, २०. शान्तिपर्व ६३.२८

यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्याङ्कुशो यथा।
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम्।।२१

वस्तुस्थिति यह होती है कि राजा अपने राज्य में सुव्यवस्था के दौरान केवल अर्थ अपितु धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति का भी कारण बनता है। धर्महीन, कर्त्तव्यहीन, आलसी, प्रमादी, निराश, उदासीन एवं जो केवल भौतिक चकाचौंध में ही उलझकर रह जाते हैं, उन समस्त प्रजाओं को वह मोक्ष पथ का अनुगामी भी बनाता है। अत: वह पुरुषार्थ चतुष्टय का कारण बनता है और उसकी नीति मात्र राजनीति न रहकर राजधर्म बन जाता है-

त्रिवर्गोऽत्र समासक्तो राजधर्मेषु कौरव।
मोक्षधर्मश्च विस्पृष्ट: सकलोऽत्र समाहित:।।२२

राजा ही युगप्रवर्तक होता है। भीष्मपितामह उपदेश करते हुये कहते हैं कि राजा ही सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलियुग की सृष्टि का कारण बनता है। वह अपनी सुव्यवस्था से सतयुग एवं दुर्व्यवस्था से कलियुग की स्थापना कर सकता है-

राजा कृतयुगस्त्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च।
युगस्य चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्।।२३

राजा को युग का स्त्रष्टा मानने पर ही "यथा राजा तथा प्रजा" की लोकोक्ति सिद्ध होती है। इसका अभिप्राय यही है कि राजा जिस प्रकार की नीति व व्यवहार से युक्त होगा उसकी प्रजा भी उसी आचरण से युक्त होगी। इसलिए वह युग का प्रवर्तक कहा जाता है। राजा के सद्गुण से युक्त होने पर उसकी प्रजा भी सद्गुण युक्त होगी और ऐसे राजा-प्रजा का काल सतयुग कहलायेगा।

महाभारत के अनुसार राजधर्म के माध्यम से राजा संन्यासी के पद को यद्वा संन्यासी के द्वारा प्राप्य ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। व्यास का कथन है- जो राजा काम-क्रोध से रहित होकर दण्डनीति के नियमानुसार प्रजा का पालन करता है तथा सब प्राणियों पर समदृष्टि रखता है वह संन्यासियों के द्वारा प्राप्य ब्रह्मपद को प्राप्त करता है-

अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनीत्या युधिष्ठिर।
समेक्षिणश्च भूतेषु भैक्षाश्रमपदं भवेत्।।२४

संन्यासी भोगयोग्य वस्तुओं को त्याग कर जो पुण्य-लाभ प्राप्त करता है उस पुण्य-लाभ को राजा प्रजापालन रूप राजधर्म की श्रेष्ठता के द्वारा ही प्राप्त कर लेता है-

---

२१. शान्तिपर्व ५६.५ २२. शान्तिपर्व ५६.४
२३. शान्तिपर्व ७०.२५ २४. शान्तिपर्व ६६.५

सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत।
आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत्।।२५

राजा के गुण एवं कर्त्तव्य–

राजा के गुण एवं कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में भी महाभारतकार विस्तार से वर्णन करते हैं। उनके मत में राजा का प्रमुख गुण जितेन्द्रयत्व है। जितेन्द्रिय राजा ही प्रजापालन एवं शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकता है :-

जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन्।२६

तदनन्तर "उद्यम" राजा का द्वितीय गुण है। महाभारत में उद्यमशील राजा की ही प्रशंसा है तथा निरूद्यमी राजा की उपमा गृह में स्थित नारी से की गयी है-

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर।
प्रशाम्यते च राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः।।२७

महाभारत के शान्तिपर्व में राजा के गुणों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। अध्याय ७१ में राजा के ३६ गुणों का उल्लेख किया गया है। राजा के कर्त्तव्यों में प्रमुख कर्त्तव्य समस्त प्रजा को धर्माचरण में प्रवृत्त कराना है। यह तथ्य है कि राजा प्रजा को धर्माचरण में तभी प्रवृत्त करवा सकता है जब वह स्वयं धर्माचरण करता हो। इस सम्बन्ध में कुछ श्लोक संग्राह्य हैं-

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकररक्षा हि राज्ञां धर्मः सनातनः।।
एष एव परो धर्मो यद्राजा रक्षयेत् प्रजाः।
भूतानां हि यथा धर्मे रक्षणं च परा दया।।
धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति।
स राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः।।
स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि समनिष्ठानि कारयेत्।।
अर्थसिद्धेः परं धर्म मन्यते यो महीपतिः।
ऋतां च कुरूते बुद्धिं स धर्मेण विरोचते।।२८

राजा के एक अन्य आवश्यक कर्त्तव्य की ओर संकेत करते हुए मनु ने कहा है कि राजा को अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा रखनी चाहिये, प्राप्त वस्तुओं की यत्नपूर्वक रक्षा करनी

२५. शान्तिपर्व ६६.१३ २६. शान्तिपर्व ६६.५
२७. शान्तिपर्व ५७.१ २८. शान्तिपर्व ५७.१५, ७२.२६, ६१.५, ६०.१६, ६३.७

चाहिये, रक्षित वस्तुओं की नाना उपायों से वृद्धि तथा बढ़ाये हुये धन को सत्पात्रों में दान करना चाहिए-

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः।

रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्।।२६

इस अभिप्राय को महर्षि व्यास ने अन्य प्रकार से कथन करते हुये लिखा है कि जो राजा कर प्रणाली के माध्यम से धन को बढ़कर उसे प्रजा के कल्याण कार्यों में नहीं लगाता वह प्रशासक तस्कर होता है-

बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं तमुपयोजयेत्।
न रक्षति प्रजाः सम्यग् यः स पार्थिवतस्करः।।३०

प्रजा का सम्यक् परिरक्षण न कर सकने वाले राजा के राष्ट्र में जिस किसी भी प्रकार का कोई भी अमंगल कार्य (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, भ्रष्टाचार आदि) होता है उस कार्य के फलस्वरूप पाप का चौथा भाग राजा को भोगना पड़ता है-

यद्राष्ट्रे कुशलं किंचिद् राज्ञोऽरक्षयतः प्रजाः।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति।।३१

दण्ड व्यवस्था :

राजनीति में दण्डनीति प्रमुख भूमिका निभाती है। यथायोग्य दण्ड प्रयोग करना जहाँ अति कठिन कार्य है वहाँ यह कर्त्तव्य राजा के लिए अनिवार्य भी है, जिसके यथावत् पालन न हो पाने के कारण प्रशासन मूलतः प्रकम्पित होने लगता है। शान्तिपर्व में दण्डनीति के विषय में भी वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ कथन है- प्रजा दण्ड के भय से पाप कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता है। यदि दण्ड प्रजा की रक्षा न करे तो समस्त प्रजा घनघोर अन्धकारित नारकीय दुरवस्था में डूब जाती है और वह एक-दूसरे को खाने लगती है-

दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम्।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत्।३२

इसमें किंचन्मात्र भी सन्देह नहीं कि यथा रीति दण्डनीति का प्रयोग करने से समस्त प्रजा की कार्यसिद्धि होती है। यदि इसका दुरुपयोग किया जाता है तो यह सर्वतोनाशी ही होता है। यदि स्वच्छ दण्डनीति नियमतः नहीं अपनायी जाती तो राष्ट्र में उच्छृंखलता अनाचार और मात्स्य न्याय का ही साम्राज्य प्रस्थापित हो जाता है-

---

२६. मनु. ७.६६ ३०. शान्तिपर्व १३७.६६
३१. शान्तिपर्व ७६.८ ३२. शान्तिपर्व १५.७

दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः।।३३

शान्तिपर्व में मन्त्री, अध्यक्ष, कोष, दुर्ग, सेना, गुप्तचर, युद्ध, सन्धि आदि राजनीति के अन्य अंगों पर भी प्रकाश डाला गया है तथा राजधर्म से सम्बन्धित अन्य अनेक विषय भी उपलब्ध होते हैं।

अन्ततः "महाभारत में धर्म एवं राजनीति" विषय को उपसंहृत करते हुये महाभारतगत एक श्लोक के माध्यम से हम कह सकते हैं कि प्रशासक राजा इन्द्रतुल्य अपनी सहस्त्र आँखों से देख-परख कर वास्तविक स्थिति का सही मूल्यांकन करते हुये जिस धर्म का भलीभांति निश्चय कर लेता है वही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार करने योग्य है-

सहस्त्राक्षेण राजा हि सर्व एवोपमीयते।
स पश्यति हि यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ।।३४

---

३३. शान्तिपर्व १५.२६ द्रष्टव्य १५.२, ४, ७, १०, २६-३०
३४. शान्तिपर्व ६२.४१

• • •

पूर्वमध्यकाल में राजनीतिक चुनौती और धर्म

डॉ0 ब्रजेश कृष्ण कठिल,
प्राचीन भारतीय इतिहास
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र (हरियाणा) – 13 6119

भारतीय इतिहास से पूर्वमध्यकाल (लगभग सातवीं सदीं से लेकर बारहवीं सदी ई० तक) व्यापक राजनीतिक परिवर्तनों के कारण विशिष्ट महत्व रखता है। यह काल भारत में केन्द्रीय सत्ता के ह्रास और क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना का काल था। विघटनकारी शक्तियों के उदय और उनके पारस्परिक संघर्ष ने पूर्वकालिक गुप्त साम्राज्य की सार्वभौम सत्ता का अवसान कर दिया। इसके स्थान पर सम्पूर्ण उत्तर भारत में अनेक स्थानीय राजवंशो का उद्भव हुआ जो क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना में तो सफल हुए किन्तु सम्पूर्ण उत्तर भारत को एक सबल सूत्र में बाँधने में असफल रहे। शासकों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, राष्ट्रीय एकता का अभाव, आतंरिक विघटन और समान्तवादी मनोवृत्ति के निरंतर विकास ने इस कालखण्ड में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की युगान्तकारी प्रक्रिया आरम्भ कर दी। भारतीय राजनीति के इस लगभग अराजक दौर में बाह्य आक्रमणों के आघात ने देश के समक्ष एक कठिन राजनीतिक और सामाजिक चुनौती प्रस्तुत की।

वस्तुत: पूर्वमध्यकालीन उत्तर भारत में राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक और धार्मिक परिवर्तनों की जो प्रक्रिया विकसित हुई वह एक तरह के विरोधाभासों को प्रतिबिम्बित करती है। यह काल अतिशय सम्पन्नता का काल है, किन्तु इस काल में कृषिदासों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। कला और साहित्य में विपुलता इस काल की वशिष्टता है, किन्तु इनमें नवीन दार्शनिक वैशिष्ट्य का अभाव है। इसी तरह यह काल राजपूतों के अभ्युदय, उनकी वीरता और शौर्य की गाथाओं का काल है।, किन्तु इसी काल में उत्तर भारत विदेशी आक्रमणों का सामना करने में असफल रहा और उसे बार-बार पराजय स्वीकार करनी पड़ी। प्रश्न यह है कि तत्कालीन भारतीय समाज, जो बल, धन और आवागमन के साधनों से परिपूर्ण और परम्परागत मूल्य, दार्शनिक चिन्तन और धार्मिक आदर्शो की विरासत से सम्पन्न समाज था, बाह्य आक्रमण के दबाव को झेलने में क्यों असफल रहा? अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न के उत्तर में सैन्य दुर्बलताओं और राजवंशों की पारस्परिक ईर्ष्या की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इस आलेख का अभीष्ट इस राजनीतिक और सामाजिक चुनौती की धार्मिक प्रतिक्रिया को रेखांकित और विश्लेषित करना है।

यह महत्वपूर्ण है कि पूर्वमध्यकाल से पहले भी उत्तर भारत का क्षेत्र अनेक बार

विदेशी आक्रमणों का सामना कर चुका था। हारवामनी-शासकों के आक्रमण से लेकर यूनानी विजेता सिकन्दर, बाख्त्री यवन, शक, पह्लव, कुषाण एवं हूण आक्रमणों को भारतीय समाज सह गया। इन आक्रमणकारियों ने भारत के भूभाग पर अपने राज्य स्थापित किए। उनके आगमन से अल्पकालिक सांस्कृतिक झंझावात आए लेकिन वे सभी आक्रमणकारी ब्राह्मणीय अथवा हिन्दू समाज-व्यवस्था में विलीन हो गए[२]। इसके विपरीत पूर्वमध्यकाल में अरबों और तुर्कों के आक्रमण को हिन्दू समाज पहले की तरह आत्मसात नहीं कर सका।

यद्यपि सिंध पर अरबों के आक्रमण सातवीं सदी के प्रथमार्द्ध में ही आरम्भ हो गए थे, किन्तु मुहम्मद-बिन-कासिम[३] के द्वारा ७१२ ई० में सिन्ध पर अधिकार के पश्चात लगभग ५०० वर्षों तक मुस्लिम आक्रमण उत्तर भारत के विभिन्न राजवंशों के लिए संकट और चुनौती बने रहे। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिहार राजाओं ने अरबों के भारत-प्रवेश को दीर्घकाल तक रोके रखा। ग्वालियर अभिलेख में इस वंश के संस्थापक नागभट प्रथम को म्लेच्छों अर्थात् अरबों को परास्त करने वाला बताया गया है।[४] बाद में तो अरबों के विरूद्ध प्रतिहार शासक इतने शक्तिशाली हो गए कि अरब यात्री सुलेमान प्रतिहार शासक भोज को अरबों और इस्लाम का सबसे बड़ा शत्रु कहता है[५]। अरबों के आक्रमण की तुलना में गजनी के तुर्कों के आक्रमण भारत के लिए निःसन्देह अधिक घातक सिद्ध हुए। अर्थलिप्सा और इस्लाम के प्रचार और प्रसार से प्रेरित महमूद गजनी ने इन आक्रमणों से विपुल सम्पदा लूटी एवं नगरों और मंदिरों का ध्वंस किया[६]। मुहम्मद गोरी और कुतुबुद्दीन के आक्रमणों का सामना राजस्थान के चाहमान[७] और बुन्देलखण्ड के चंदेलवंश[८] ने दीर्घकाल तक किया और इसी संघर्ष में इन राजवंशों की सत्ता ध्वस्त हुई। मुस्लिम आक्रमण के इस सतत प्रवाह को रोकने में तमाम प्रयासों के बावजूद भारतीय राजवंश अन्ततः असफल रहे। इस प्रक्रिया में धन-जन की प्रभूत हानि हुई और इसके साथ ही भय और निराशा भारतीय जनमानस के अंग बन गए। ऐसा प्रतीत होता है कि मुस्लिम आक्रान्ताओं के आक्रमण भारतीय राजनीति के लिए तो चुनौती थे ही, इसके साथ-साथ ये आक्रमण भयावह सामाजिक और सांस्कृतिक संकट भी थे।

अरबों के सतत आक्रमणों से हिन्दू समाज की जड़े हिल गई और सामाजिक जीवन के ढांचे में एक विलक्षण परिवर्तन हुआ। सिंध पर अधिकार करने के बाद ही इस्लाम धर्म की प्रसार नीति के अंतर्गत बड़ी संख्या में भारतीयों को मुसलमान और दास बनाया गया। इस्लामीकरण के इस ज्वार ने भारतीय हिन्दू समाज के समक्ष एक विकट संकट खड़ा कर दिया। भारतीय मनीषा को कुछ ऐसे उपायों की आवश्यकता थी जो उन लोगों को पुनः हिन्दू बना सकें जिन्हें बलपूर्वक इस्लाम में दीक्षित कर दिया गया था। यह इस काल की नई समस्या थी। इसके पहले के स्मृतिकारों ने अपने ग्रंथों में इस तरह के धार्मिक पुनरागमन की कोई व्यवस्था नहीं दी थी। तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार पूर्वमध्यकाल में नए धार्मिक नियम समाज को प्रदान किए गए। हिन्दू धर्म में पुनरागमन की यह व्यवस्था आठवीं

शताब्दी ई० में आरम्भ हुई। इसके प्रणेता महर्षि देवल है। देवल स्मृति[९] के अनुसार, महर्षि देवल सिन्धु नदी के किनारे ध्यानावस्थित थे, तभी कुछ ब्राह्मणों ने उनसे बलपूर्वक "म्लेच्छ" बनाए गए हिन्दुओं की रक्षा का मार्ग पूछा। इसके उत्तर में देवल ने बलपूर्वक बनाए गए मुसलमानों को हिन्दू धर्म मे लौटने की व्यवस्था दी[१०]। स्मृति के अनुसार, यदि मुसलमान बनने की अवधि बीस वर्ष से कम है तो उन्हें पुन: हिन्दू धर्म में स्वीकार किया जा सकता है। स्मृति का स्पष्ट मत है कि जिन व्यक्तियों ने भय अथवा बल के कारण म्लेच्छ धर्म स्वीकार कर लिया है तथा जिन स्त्रियों का अपहरण कर गर्भवती भी कर दिया गया है, उनका भी प्रायश्चित करने के पश्चात हिन्दू धर्म में पुनरागमन किया जा सकता है। स्मृति का कथन है कि आक्रान्ता द्वारा अपहृत स्त्री तीन दिन का उपवास करने पर रजस्वला होने के पश्चात निर्दोष और शुद्ध मानी जा सकती है। गर्भवती स्त्री संतानोत्पत्ति के पश्चात पुन: हिन्दू समाज में स्वीकार की जा सकती हैं। देवल के अनुसार, स्त्री के गर्भ में यह संतान शल्य के समान है। इस शल्य के शरीर से निष्कासन के पश्चात स्त्री स्वर्ण के समान शुद्ध हो जाती है[११]। यद्यपि ऐसी स्त्रियों से उत्पन्न होने वाली संतान के विषय में स्मृति मौन है, किन्तु स्मृति के विवरण से यह निष्कर्ष निरूपित किया जा सकता है कि ऐसी संतानों को भी हिन्दू समाज-व्यवस्था के सदस्य के रूप में मान्यता दी गई थी। निश्चित-रूप से हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऐसी संतानें प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न मिश्रित जातियों के अंतर्गत स्वीकार की जाती रही होंगी क्योंकि म्लेच्छ आक्रान्ता को हिन्दू समाज-व्यवस्था के सदस्यों से सदैव ही निम्न स्वीकार किया गया[१२]।

इस सामाजिक परिवर्तन की पुष्टि अरब इतिहासकारों के वृत्तान्तों से होती है। बिलादुरी और अलबीरूनी ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि मुसलमान बनाए गए लोगों को पुन: हिन्दू धर्म में स्वीकार करने का नियम उस काल में था। बिलादुरी[१३] के अनुसार, सिंध के गर्वनर जुनैद ने राजपूताना और गुजरात में आतंक फैलाया तथा अनेक लोगों को मुसलमान बनाया किन्तु उसके उत्तराधिकारी के समय अलहिन्द के से लोग मूर्तिपूजक धर्म में लौट गए। इसी भाँति अलबीरूनी[१४] उल्लेख करता है कि हिन्दू दास अपने धर्म में वापिस लौटते है तो उन्हें उपवास के द्वारा प्रायश्चित करना पड़ता है तथा उन्हें गोबर और गोमूत्र के सेवन से शुद्ध किया जाता है। देवल स्मृति चान्द्रायण तथा पराक व्रतों और गोमूत्र और गोमय (गोबर) के सेवन का उल्लेख करती है। देवल स्मृति में सीमान्त पर स्थित सिन्ध और सौवीर जैसे म्लेच्छ देश से लौटने पर भी "शुद्धि" का विधान है[१५]।

जैसा कि देवल स्मृति और अरब इतिहासकारों के इन वृत्तान्तो से स्पष्ट है, विवेच्य काल के विधिकारों ने विदेशी आक्रान्ताओं के दुर्धर्ष आघातों से समाज की रक्षा का हर सम्भव प्रयास किया। यह पूर्व मध्यकाल में धर्म की नवीनता से और सर्वथा नवीन परिस्थितियों में उसकी उपयोगिता का विलक्षण उदाहरण है।

पूर्वमध्यकाल में उपरिलिखित राजनीतिक संकट से जूझने के लिए धर्म के एक अन्य पक्ष पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भारतीय जाति और वर्ण-व्यवस्था अपने नियमों में प्राय: कठोर मानी जाती है किन्तु उस समय की विशिष्ट परिस्थितियों में विधिकारों ने सामाजिक नियमों में तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार अभूर्तपूर्व किए। यद्यपि ये परिवर्तन सामाजिक ढांचे के मूलस्वरूप को बनाए रखते हुए ही किए गए। देश की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस काल में एक नए वर्ग राजपुत्रों या राजपूतों का उद्भव हुआ और उन्हें भारतीय समाज-व्यवस्था में क्षत्रियों के रूप में सम्मानित स्थान मिला[१६]। युद्ध के वातावरण में क्षात्र धर्म प्रासंगिक हो उठता है। अनेक युद्धकर्मा क्षत्रियेतर जातियों को जिनमें विदेशी तक सम्मिलित थे, क्षत्रिय घोषित किया गया। छत्तीस राजपूत-राजवंशो की सूची में हूणों का उल्लेख है[१७]। यहाँ तक कि ब्राह्मण कुलों द्वारा राजत्व की प्राप्ति के साथ क्षत्रियत्व का स्वीकार इस काल के सामाजिक इतिहास की विशिष्ट घटना है। घटियाला अभिलेख[१८] में प्रतिहारों के मूल पुरूष हरिश्चन्द्र को ब्राह्मण और उसकी क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न पुत्रों को क्षत्रिय कहा गया है। क्षत्रियों पर राष्ट्र एवं समाज की सुरक्षा का भार था। तत्कालीन अभिलेखों में उन्हें गो-द्विज का रक्षक और आर्यावर्त को म्लेच्छों से मुक्त कराने वाला कहा गया है[१९]।

पूर्वमध्यकाल में ही राजस्थान में आबू के समीप यज्ञ से राजपुत्रों के उद्भव की कथा गढ़ी गई, और यह स्वीकार किया गया कि इनका उदय धर्म की रक्षा के लिए हुआ है। तमाम युद्ध करने वाली जातियों को क्षत्रिय वर्ण का स्वीकार करना तत्कालीन विधि निर्माताओं की जागरूकता और देश की चुनौती के लिए समीचीन प्रतिक्रिया थी।

इतना ही नहीं, पूर्वमध्यकाल में स्मृतियों के टीकाकारों ने वर्णधर्म की व्याख्या में ढील दी और समय की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों को सैन्य-सेवाओं की अनुमति दी। वर्ण धर्म के नियमों में परिवर्तनों की पुष्टि तत्कालीन अभिलेखों से होती है। चंदेल शासकों के अभिलेखों में ब्राह्मण सेनापतियों के विवरण मिलते हैं।[२०] मुसलमानों के विरूद्ध संघर्ष करते हुए वीरगति प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों का उल्लेख भी कुछ अभिलेखों में प्राप्त है[२१]। अनेक अभिलेखों में ब्राह्मणों की "राउत" और "ठाकुर" जैसी सामंती उपाधियां मिलती है, जिन्हें प्राय: क्षत्रिय धारण करते थे[२२]। इसी भांति वैश्यो के द्वारा क्षत्रिय कर्म अपनाए जाने की जानकारी इस युग में मिलती है। कलचुरि वंश के सामन्त वैश्य-ज़ातीय वल्लभराज की विजयों का उल्लेख एक अभिलेख में है[२३]। इसके अतिरिक्त भी अनेक वैश्यों के सेनापतियों और राज्याधिकारियों के रूप में दृष्टान्त मिलते है। एक अभिलेख में चौलुक्य कुमारपाल के द्वारा सज्जन नामक कुम्हार का चित्तौड़ के प्रशासक के पद पर नियुक्त किए जाने का उल्लेख है[२४]। यह तत्कालीन सामाजिक संकट की पृष्ठभूमि में वैश्यों और शूद्रों के प्रति यथासम्भव सामाजिक उदारता का परिचायक है।

विशिष्ट परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए सम्भवतः विवेच्यकाल के धार्मिक चिन्तकों ने समायानुकूल प्रतिमानों की स्थापना की। यह ध्यान देने योग्य है कि पूर्वमध्यकाल में पृथ्वी की रक्षा करने वाले वराह अवतार को विशेष मान्यता मिली। प्रतिहार और चंदेल-कला में इस तरह की देव-प्रतिमाओं को विशेष प्रश्रय दिया गया। उल्लेखनीय है कि प्रतिहार वंशीय भोज ने स्वयं आदिवराह का विरूद धारण किया[२५]। शक्ति को प्रदर्शित करने वाला शिव का संहाररूप भी इस काल में बहुत लोकप्रिय हुआ। शिव के इस रूप में गजासुरसंहार, त्रिपुरान्तक, अंधकासुर, कामान्तक, यमान्तक आदि संहारक प्रतिमाओं का बहुविध निर्माण, प्रचार और प्रसार इस काल की अपनी विशेषता है। इसी भांति देवी का महिषासुरमर्दिनी रूप भी पूर्वमध्यकाल की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल प्रतीत होता है। देवी के इस संहारक रूप की अनेकों प्रतिमाएं सम्पूर्ण देश में लोकप्रिय हुई।[२६]

राजनीति और धर्म के प्रसंग में गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार, जब तक धर्म और राजनीति का संकट न हो तब तक धर्म के कारण राजनीतिक संघर्ष सम्भव नहीं। मजहबी व्यवस्था को राजनीति का आधार मानने पर असहिष्णुता, हिंसा और सत्ता-लोलुपता रूपी राजनीतिक विकृतियों से धर्म का सम्बन्ध जुड़ सकता है। किन्तु भारतीय परम्परा में प्रत्येक समुदाय को स्वधर्माचरण में स्वतन्त्र मानने के कारण, धर्म सत्ता के संघर्ष की ओर उदासीन था और सत्ता भी धर्म भेद की ओर सहिष्णु थी[२७]। सम्भवतः यह भारतीय परम्परा का प्रभाव ही था कि पूर्वमध्यकाल की विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितयों में भी धार्मिक असहिष्णुता परिलक्षित नहीं होती। प्रतिहार वंश के शासक, जिन्होंने बहुत लम्बे समय तक मुस्लिम धर्म के प्रसार को भारत में रोके रखा, अपने व्यक्तिगत जीवन में धार्मिक रूप से अत्यन्त उदार थे। उनके काल के अभिलेख इस बात का उल्लेख अनेक बार करते हैं कि इस वंश के शासकों में देवशक्ति विष्णुभक्त, वत्सराज तथा महेन्द्रपाल (द्वितीय) महेश्वर भक्त, नागभट (द्वितीय), महेन्द्रपाल (प्रथम) तथा विनायकपाल भगवती भक्त और रामभद्र आदित्यभक्त थे। किसी राजवंश की धार्मिक सहिष्णुता का यह अनुपम उदाहरण धर्म की बाह्य चुनौती के प्रसंग में रेखांकित करने योग्य है।

इस तरह पूर्वमध्यकाल में राजनीतिक और सामाजिक चुनौती के समक्ष भरतीय चिन्तकों ने एक ऐसी व्यापक और प्रभावकारी धार्मिक प्रतिक्रिया का निर्माण किया जिसके दूरगामी परिणाम हुए। सम्भवतः यह उसी प्रतिक्रिया का चमत्कार है कि राजनीतिक पराभव के पश्चात भी हिन्दू समाज की मूल प्रकृति आज भी विद्यमान है।

पादटिप्पणियाँ

१. इतिहास चयनिका (डा० सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रंथ), जर्नल आफ द यू०पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, पृ०२१ तथा आगे।

२. बी० एन० एस० यादव, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नॉदर्न इण्डिया, पृ०३२ तथा आगे।
३. मकबूल अहमद, इण्डो अरब रिलेशंस, पृ० ६८।
४. एपियाग्राफिया इण्डिका, भाग १८, पृष्ठ ९९ तथा आगे।
५. मकबूल अहमद, उपर्युक्त, पृ० ६९।
६. एम० हबीब,सुलमान महमूद आफ गजनी, पृ० १९।
७. दृष्टव्य, दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टी।
८. इलियट एण्ड डाइसन, हिस्ट्री आर्फ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, भाग-२ पृ० २३१-२।
९. स्मृतिनाम् समुच्च, आनन्दाश्रम संस्करण, ग्रंथ संस्था, ४८, पृ०८५-८९।
१०. पी०वी०काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, एण्ड-२, भाग-१, पृ० ३८९-९१।
११. वही।
१२. वाई०बी०सिंह, "चैजिंग डाइमेंशंस आफ सोशियो-पोलिटिकल आइडियल्स इन अर्ली मीडिवल इण्डिया", ऐसेज आन इण्डोलोजी, पोलिटी एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन (सं० एस०डी०त्रिवेदी), पृ० ३२२।
१३. इलियट एण्ड डाउसन, उपर्युक्त, भाग-, पृ०१२६।
१४. ई०सी०एचाउ, अलबिरूनीज इण्डिया, भाग-२, पृ० १६२।
१५. देवल स्मृति, श्लोक ६५।
१६. आर०सी० मजूमदार (सं०) द क्लासिकल एज, पृ० ६४-६५।
१७. बी०एन०एस० यादव, उपर्युक्त, पृ० ३२।
१८. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-१८, पृ० ९५।
१९. इण्डिका एण्टीबवेरी, भाग-२, पृ०२०१-१२।
२०. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग-१, पृ० २२२।
२१. वही, भाग-५, पृ० २०।
२२. वही, भाग-४, पृ० १५८, भाग-१६, पृ० २१६। भाग-२०, पृ० १३३।
२३. कार्पस इस्क्रिपशनस इण्डिकेरम भाग-४।
२४. दशरथ शर्मा, उपर्युक्त, पृ० २४८।
२५. आर०सी०मजूमदार (सं०) द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० ३२।
२६. ब्रजेश कृष्ण, द आर्ट अण्डर द गुर्जर प्रतिहारराज, पृ० १३५,१५३-४,१६४।
२७. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, भारतीय परम्परा के स्वर, पृ० १९।

वेदों में धर्म एवं राजनीति

डॉ0 ज्ञान प्रकाश शास्त्री

मानव एक समाज सापेक्ष प्राणी है। समाज से रहित मानव की कल्पना संभव नहीं है, उसका अस्तित्व समाज की धड़कन पर अवलम्बित हैं। समाज के सम्यक् संचालन के लिए धर्म और राजनीति दोनों की उपयोगिता है। धर्म से रहित राजनीति सूखी हुई लता के समान है, जिस पर फल तो मिलते ही नहीं हैं, लेकिन कूड़ा अवश्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार राजनीति के बिना धर्म लंगड़ा है, वह चाहकर भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजरूपी गाड़ी को चलाने के लिए धर्म और रांजनीति दोनों अपरिहार्य हैं, न केवल अनिवार्य है, अपितु एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। धर्म आत्मा है और राजनीति उसका शरीर है। शरीर के बिना आत्मा भोग करने में असमर्थ है और आत्मा के बिना शरीर हिल भी नहीं सकता। अत: एक दूसरे के सहयोग में दोनों की पूर्णता है। इसलिए धर्मनिरपेक्ष राजनीति या राजनीति निरपेक्ष धर्म ये दोनों स्थितियाँ मानव के विकास में बाधक हैं।

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के प्रथम मन्त्र में धर्म और राजनीति का समन्वय करता हुआ मंत्रदृष्टा ऋषि कहता है कि राज्य के सफल संचालन के लिए बृहत् सत्य, उग्र, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ इन छ: सूत्रों का उचित उपयोग आवश्यक है।[१] ये ही छ: सूत्र पृथिवी को धारण करते हैं।

१. सत्यं बृहत्- उक्त पृथिवी सूक्त के मन्त्र में ऋषि ने सर्वप्रथम "सत्यं बृहत्"[२] पद को अभिव्यक्त किया है। इसका अर्थ है व्यापक सत्य। राजनीति के पथ पर चलने वाले को व्यापक सत्य की पहिचान होनी ही चाहिए।

सत्य के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ ब्राह्मण ग्रन्थ का ऋषि कहता है कि देवता और प्राणों से जो भिन्न है वह "सत्" है तथा देवता और प्राण "त्यं" हैं।[३] अपने उक्त कथनं को स्पष्ट करता हुआ अन्त में ब्राह्मण कहता है कि यह सब कुछ सत्य है।[४]

सत्य से निरपेक्ष होने का अर्थ है कि जीवन के गहनतम ज्ञान से निरपेक्ष होना। कोई भी राजनीत्ति धर्म (सत्य) से निरपेक्ष होगी- अर्थात् वह अपने में सबको समाहित करके नहीं चलेगी तो वह कुण्ठा का कारण बनेगी और कुण्ठा की प्राप्ति राजनीति का लक्ष्य नहीं मानी जा सकती।

---

१. अर्थववेद, १२.१.१, "सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।"
२. वही, १२.१.१.
३. शां०आ०, ३, ६ कौ० ३४०१.६ "किं तद्यत्सत्यमिति, यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत्सदथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत् त्यम्।"
४. वहीं ३.६. कौ० ३४० १.६. "सत्य मित्येतावदिदं सर्वम्"।

ऋग्वेद भाष्य भूमिका में वेदोक्त धर्म का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दयानन्द ने इसी सत्य का उद्घाटन किया है। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के मन्त्रों को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने संदेश दिया है कि वेदोक्त धर्म वह है कि जिसमें सभी लोग साथ मिलकर चलते हैं एक जैसा बोलते हैं और एक जैसा ज्ञान प्राप्त करते हैं।[५] जहाँ सबके विचार समान हैं, जहाँ सबकी सभा समिति समान हैं, जहाँ मन समान हैं, जहाँ खान-पान समान हैं, वहाँ धर्म है।[६] इसके अतिरिक्त जिनके संकल्प समान हैं, जिनके हृदय समान हैं, उनमें धर्म का निवास है।[७] इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि समता ही धर्म है और विषमता अधर्म/राजनीति का प्रारम्भ भी इसी उद्देश्य से हुआ है। विषमता को समता में रूपान्तरित करने की प्रक्रिया का नाम राजनीति है।

जहाँ लोगों के मन, वचन और कर्म में साम्य नहीं, वह राष्ट्र बहुत दिनों तक एक नहीं रह सकता। तभी तक कोई देश एक रह सकता है, जब तक उसकी दिशा एक है। तभी तक कोई रथ, रथ (रमणीय वाहन) बना रह सकता, जब तक उसके सभी अश्व एक ही दिशा में अपना पूरा बल लगाते हैं।

उपर्युक्त मन्त्र में "समिति" के एक होने का उल्लेख किया है।[८] यह भी तभी सम्भव है कि जब सभी के मन, वचन और कर्म समान हों अर्थात् आचरण में विषमता न हो। "समिति" शब्द में आया "सम्" स्वयं इस तथ्य की उद्घोषणा कर रहा है कि बिना आचरण साम्य के समिति एक नहीं हो सकती और बिना समिति के हम सभासद् अर्थात् सभ्य नहीं बन सकते।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्म का अर्थ सत्य है और सत्य का अर्थ है "समता" तथा उस समता की प्राप्ति का साधन है राजनीति। इसलिए राजनीति को धर्म सापेक्ष होना ही चाहिए। धर्मनिरपेक्ष राजनीति विषमता को जन्म देती है और विषमता कुण्ठा को और कुण्ठा दुःख के रूप में प्रकट होती है।

यदि दुःख मुक्ति मानवता का लक्ष्य है तो राजनीति का आधार समता ही हो सकती है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमने भारतीय गणतन्त्र को धर्म निरपेक्ष घोषित कर दिया। यह तो मात्र एक प्रतिक्रिया है। इससे पूर्व एक हजार वर्ष तक भारतीय धर्म राजनीति निरपेक्ष बना रहा। इसी का परिणाम था कि हमसे कम शक्तिशाली लोग हम पर शासन करते रहे। एक हजार वर्ष की लम्बी गुलामी के इतिहास में कदाचित् किसी सन्त ने

---

५. ऋग्वेद १०, १९१.२
६. वहीं, १०, १९१.३
७. वही, १०, १९१,४
८. वही, १०, १९१.३

एक बार भी ऐसा नहीं कहा कि इस देश को आजाद होना है। विदेश जाना पाप है, यह तो अनेकशः धर्मग्रन्थों ने कहा, परन्तु दासता पाप है, यह कहने का साहस मध्ययुगीन धर्म नहीं दिखा पाया। इस कारण धर्म भी अक्षुण्य नहीं रह सका और न राजनीति पथभ्रष्ट होने से बच सकी। दोनों कलुषित हो गये। इस कलुष की कालिमा से जन्म लेने वाली स्वतन्त्रता भी हमें खण्डित ही मिली और उसमें निरन्तर पिछले पचास वर्षों में विषमता का जहर घोला जा रहा है। इसका कारण धर्म निरपेक्ष होना है। जीवन में जो कुछ भी अर्थपूर्ण है, वह धर्म है। जिससे मनुष्य ऊँचा उठ सकता है, वह सब धर्म है। धर्म से रहित राजनीति को स्वीकार करने वाले समाज में, उसी प्रकार की दुर्गन्ध उठने लगती है, जैसी कि सड़ी हुई लाश में आती है। अतः धर्म निरपेक्ष राजनीति का अवलम्बन देश हित में उचित नहीं माना जा सकता है।

राजा के बिना राजनीति अर्थहीन है। राजा के प्रमुख गुणों का उल्लेख करता हुआ यजुर्वेद कहता है कि उसका सर्वप्रमुख गुण सत्यवादी और सत्य तथा न्याय को पथ पर चलना है।[९] इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है कि राजा और राजपुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को कभी असत्य न होने दें, जितना कहें उतना ठीक-ठीक करें। जिसकी वाणी सब काल में सत्य होती है। वही पुरुष राज्याधिकार के योग्य होता है।[१०] एक अन्य स्थल पर राजा के चयन योग्य निम्न ग्यारह गुण बताए गए हैं।[११] १-उपयाम गृहीत- जिसने सत्य नियमों को यम के समान धारण कर रखा है। २-ध्रुवसदम्-योग विद्या के मार्ग पर अटल स्थित है। ३-नृषदम्-जो जनता जनार्दन के हृदय में विराजमान है अर्थात् जिसे उसकी योग्यता के कारण सब चाहते हैं। ४-मनःसदम्-जो लौकिक विज्ञान में अग्रणी है। ५-अप्सुसदम्- जो जल विज्ञान द्वारा जल में स्थित सम्पदा का दोहन करने या कराने में समर्थ हैं। ६-घृतसदम्-जो घृत आदि बल व ओज प्रदान करने वाले पदार्थों का भक्षण करने से तेजस्वी है। ७-व्योमसदम्-विमान आदि से आकाश में गमन करने में समर्थ है। ८-पृथिविसदम्-जो पृथ्वी पर भ्रमण करने वाला है। ९-अन्तरिक्षसदम्-आकाश में चलने वाला है। १०-दिविसदम्-जो न्याय और प्रकाश करने में समर्थ है। ११-नाकसदम्-जो दुख से रहित समाधि में स्थिति हो सकता है।

उपर्युक्त मन्त्र में प्रतिपादित राजा के ग्यारह गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वही राजा होने के योग्य है जो सत्य और न्याय के प्रति समर्पित है। जिसने अपने जीवन में धर्म के दोनों रूपों[१२] अभ्युदय और निःश्रेयस् का सम्यक् समन्वय किया हुआ है अर्थात् जिसमें

---

९. यजुर्वेद, ६.१०-देवस्याहं सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योतमं नाकमा रुहेयम्।

१०. वही ६, १२ "एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं बाजमजीजपताजीजपत बृहस्पतिं वाचं वनस्पतयो विमुच्यध्वम्।"

११. वही, यजुर्वेद ६.२।

१२. वैशे० १.१.२ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः।

सम्भूति और विनाश, विद्या और अविद्या, भक्ति और ज्ञान, कर्म और उपासना साथ साथ रहते हैं।[१३] जिसके जीवन का लक्ष्य नरक न होकर अर्थात् मोक्ष है। वह व्यक्ति राजा होने योग्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में धर्म निरपेक्ष राजनीति या राजनीति निरपेक्ष धर्म दोनों में से कोई भी पक्ष स्वीकार्य नहीं हैं। वस्तुत: देखा जाए तो धर्म का अभ्युदय मूलक पक्ष राजनीति है। राजनीति का सीधा सा अर्थ है कि समाज और व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित करना और धर्म का मतलब है कि जीवन के श्रेष्ठतम मूल्य, इसलिए इन दोनों में विरोध नहीं है, प्रत्युत ये एक दूसरे के सहकारी हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो धर्म का साधन राजनीति है क्योंकि राजनीति के माध्यम से वर्णाश्रम धर्म तथा अन्य मर्यादाओं की स्थापना करना सुकर है। जिन्हें धर्म का उपदेश सुपथ नहीं दिखा पाता, राजनीति का दण्ड उनका मार्ग प्रशस्त कर देता है। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि धर्म निरपेक्ष राजनीति या राजनीति निरपेक्ष धर्म न देशहित में है, न समाज हित में और न व्यक्तिहित में।

अर्थववेद के पृथिवी सूक्त में आए "जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथोकसम्"[१४] मन्त्र के आधार पर पं० शिवकुमार शास्त्री तथा डॉ० रामेश्वर दयाल गुप्त[१६] का मन्तव्य है कि उक्त मन्त्र में साम्प्रदायिक झगड़ों को मिटाकर देश को समृद्ध करने का उपाय बताया गया है अर्थात् शासन को धर्म निरपेक्ष रहकर सभी धार्मिक समुदायों में सद्भावना बनाए रखने में सहयोग करना चाहिए। उक्त मन्त्र का अर्थ वे करते हैं कि यह पृथिवी अनेक धर्मों वाले तथा अनेक भाषा भाषी लोगों को एक घर के साधन धारण करती है। उक्त मनीषी द्वय का यह विचार मन्त्र में आए "विवाचसं नानाधर्माणम्"[१७] पदों के आधार पर लिया गया है।

निस्संदेह उक्त अर्थ को ग्रहण किया जा सकता है, लेकिन विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक होते हैं ? क्या वेद अनेक धर्मों को स्वीकार करता है ? निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि धर्म केवल एक है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि धर्म ही सत्य है इसलिये सत्य बोलने वाले के लिए कहा जाता है कि वह धर्म कहता है और धर्म बोलने वाले के लिये कहा जाता है कि वह सत्य बोल रहा है।[१८] यदि धर्म अनेक होंगे तो धर्म को सत्य से भिन्न भी मानना होगा, जो कि किसी को भी स्वीकार नहीं होगा, क्योंकि तब फिर धर्म और अधर्म के बीच विभाजक रेखा खींचना नहीं रह जायेगा।

---

१३. यजुर्वेद ४०.११.१४
१४. अथर्व १२.१.४५
१५. शास्त्री, शिवकुमार, श्रुतिसौरभ, पृ० ४२६-३०
१६. गुप्त, डॉ० रामेश्वर दयाल, दयानन्द सरस्वती द्वारा पुनः प्रस्तुत वैदिक राजदर्शन पृ० १७५, लाइट एण्ड लाइफ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, १९७९
१७. अथर्व ० १२.१.४५
१८. शत० ब्रा० १४.४.२.२६ यो वैस धर्म सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति।

आचार्य मनु ने धर्म का लक्षण करते हुए "दशकं धर्म लक्षणम्"[१९] के सिद्धान्त की उद्घोषणा की है। यहाँ पर मनु स्पष्ट करते हैं कि धर्म तो एक है, लेकिन लक्षण उसके दस हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में धर्म निरपेक्ष शासन प्रणाली की संकल्पना नहीं की गयी है। मन्त्र में आए "नानाधर्माणम्"[२०] का आशय यह माना जा सकता है कि अनेक गुणों वाले अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले लोग पृथिवी पर रहते हैं, जैसे एक घर में रहने वाले सदस्य भिन्न स्वभाव के होने पर भी सद्भाव से रहते हैं, उसी प्रकार "वसुन्धरैव कुटुम्बकम्" की भावना से प्रत्येक को आपस में सामंजस्य बैठाना चाहिए। यह वेद का सन्देश है।

धर्म के साथ गठबन्धन हो जाने पर राजनीति कुटिलता का परित्याग कर देती है फिर राजनीति सत्य और असत्य को एक मानकर नहीं चल सकती, धोखा देना फिर संभव नहीं रह जाता। निर्णय करते समय अपने और पराये का मोह जाता रहता है, फिर वही होता है, जो होना चाहिए। इसलिए धर्म का आधार भी समता है और राजनीति का भी। समता के पथ से विचलित धर्म अधर्म बन जाता है और राजनीति कूटनीति बन जाती है। तब न्याय और अन्याय, उचित और अनुचित की कसौटी मात्र स्वार्थ रह जाता है। सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझने के सिद्धान्त के विपरीत अपनी उन्नति में सबकी उन्नति है, यह स्वार्थ दर्शन मुखर हो उठता है। तब धर्म और राजनीति का मूल स्तम्भ न्याय ढह जाता है।

अत: यह अपेक्षित ही नहीं आवश्यक भी है कि धर्म के साथ राजनीति का सुखद संयोग बना रहे, तभी धर्म इस धरा पर जीवित रह सकता है और राजनीति मानव मात्र से आगे प्राणिमात्र के कल्याण का साधन बन सकती है।

---

१९. मनुस्मृति ६.९२
२०. अथर्व १२.१.४५

छान्दोग्योपनिषद में धर्म और राजनीति

डॉ0 मनुदेव बन्धु,
अध्यक्ष वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

धर्म का रहस्य- धार्मिक आदर्शों ने भारतीय संस्कृति को विशेष स्वरूप प्रदान किया है। धर्म उस अलौकिक और रहस्यमय शक्ति का प्रतीक है। जिसकी नींव पर व्यष्टि रूप में मानव और समष्टि रूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित है। धर्म केवल आचार संहिता मात्र नहीं है। उसकी धारणा में नैतिकता और आध्यात्मिकता का समावेश है।[1] इसका सम्बन्ध उन महनीय तत्त्वों से है जिसके आश्रय से मानव अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करता है। वस्तुतः उपनिषदों में धर्म का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है-आत्मज्ञान की प्राप्ति अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति।

छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के महनीय और उदात्त रूप के दर्शन होते हैं। इसमें स्थान-स्थान पर नैतिकता और सदाचार का उपदेश है। जो मानव को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर करता हुआ उस श्रेष्ठतम और सूक्ष्मतम ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य बनाता है। यही कारण है कि धर्म के साथ कर्म की व्याख्या की गयी है।

धर्म के तीन स्कन्ध- यज्ञ, अध्ययन, दान, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, उपासना, तप आदि अनेक धार्मिक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन छान्दोग्योपनिषद् में किया गया है। इसमें धर्म के तीन स्कन्धों का कथन किया गया है।[2]

१. यज्ञ, अध्ययन और दान को प्रथम

२. तप को द्वितीय

३. ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जीवन पर्यन्त आचार्यकुल में वास करने को धर्म का तृतीय स्कन्ध कहा गया है।

जो इसका पालन करता है वह पुण्य लोकों को प्राप्त होता है जो इनका पालन करते हुए ब्रह्म भाव में समीचीन स्थित रहता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।

यज्ञ- उपनिषदों में यज्ञ का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। यज्ञ का तात्पर्य केवल अग्नि होत्र आदि ही में सीमित नहीं रह गया अपितु "पुरुषो वाव यज्ञः"[3] इत्यादि से एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत कर मानव जीवन को यज्ञ की संज्ञा दी है जिसमें सम्पूर्ण जीवन-काल को तीन भागों में विभाजित कर उन्हें प्रातः सवन माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन तुल्य कहा है।

तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य को उस जीवन यज्ञ की दक्षिणायें कहा है।[४] अभिप्राय यह है कि जीवन की सम्पूर्णता और सफलता तभी है जबकि इन उपर्युक्त गुणों का जीवन में पालन किया जाय।

इस सवनत्रय के अनुष्ठान के महत्त्व को और अधिक व्याख्यापित करती हुई उपनिषद् कहती है कि जो सवनत्रय को अच्छी तरह जानता हुआ इनका अनुष्ठान करता है वह रोगमुक्त होकर दीर्घायु को प्राप्त करता है। वह जो खाता है, जो पीता है, जो रमण करता है, वह ऋत्विजों के समान ही है और जो हंसता है, गमन करता है, संयोग करता है, वह स्तोत्र और शस्त्र के समान है।[५] उसका पुनर्जन्म "सोष्यति" और "असोष्ट" क्रिया के समान है और मरण 'अवभृथ' (यज्ञ के पश्चात् स्नान) के तुल्य है।[६]

प्रथम प्रपाठक में "यज्ञं विततम्"[७] पदों का उल्लेख आया है जिसमें विदित होता है कि बड़े-बड़े यज्ञों का भी प्रचलन था, जिन्हें प्रस्तोता[८] उद्गाता,[९] प्रतिहर्त्ता[१०] नामक ऋत्विजों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। ऋत्विजों का चयन उनकी योग्यता पर आधारित था। यदि ऋत्विक् अपने-अपने उद्गीथ आदि स्तुतियों से अनुगत देवताओं को न जानते थे तो ऋत्विक् कार्यों में प्रवृत्त होते थे तो उनका सिर गिर जाता था।

वायु को यज्ञ का कारण बताते हुए यज्ञ की मन और वाणी दो वर्त्तनियों का उल्लेख है।[११] ब्रह्मा नामक ऋत्विक् उन दोनों में से एक वर्त्तनि को मन से संस्कृत करता है और दूसरी वर्त्तनि को होता, अध्वर्यु और उद्गाता वाणी से संस्कृत करते हैं।[१२] यदि ब्रह्मा नामक ऋत्विक् प्रातरनुवाक के प्रारम्भ हो जाने पर परिधानीया ऋचा के उच्चारण के पूर्व बोल उठता है तो उस यज्ञ की एक वर्त्तनि नष्ट हो जाती है और वह यज्ञ भी उसी प्रकार विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार की एक चक्र पर चलने वाला रथ। यज्ञ के नष्ट होने पर वह यजमान भी नष्ट हो जाता है।[१३]

यज्ञानुष्ठान में हुए अन्य दोषों के परिहार के लिए कहा है कि जब यज्ञ में ऋग्वेद सम्बन्धी क्षति होती है तो उसके सन्धान के लिए गार्हपत्याग्नि कुण्ड में "भूः स्वाहा" इस प्रकार पढ़कर होम करे क्योंकि "भू" नामक व्याहृति ऋग्वेद का सार है। यदि यज्ञ में यजुर्वेद सम्बन्धी क्षति होती है तो उसके सन्धान के लिए दक्षिणग्नि में "भुवः स्वाहा" पढ़कर होम करे क्योंकि "भुवः" नामक व्याहृति यजुर्वेद का सार है। इसी प्रकार सामवेद सम्बन्धी क्षति होने पर "स्वः स्वाहा" बोलकर आहवनीय अग्नि में होम करे क्योंकि "स्वः" व्याहृति सामवेद का सार है।[१४]

द्वितीय प्रपाठक में प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन का वर्णन है।[१५] इस सवनत्रय के विधिविधान का वर्णन करते हुए उपनिषद् कहती है कि प्रातः सवन में प्रातरनुवाक के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वसु देवता-सम्बन्धी साम को गाये। तब प्रार्थना

करे। तत्पश्चात् गार्हपत्याग्नि में हवन करे।[17] माध्यन्दिन सवन से पूर्व दक्षिणाग्नि कुण्ड के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर रूद्र देवता सम्बन्धी साम को गाये। तब प्रार्थना करे। तदनन्तर हवन करे। इसी प्रकार तृतीय सवन के पूर्व आहवनीय अग्नि के उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य और वैश्वदेव सम्बन्धी साम को अच्छी प्रकार गाये। तत्पश्चात् प्रार्थना करे और आहवनीय कुण्ड में होम करे।[18]

पञ्चम प्रपाठक में एक प्रकरण है कि यदि पुरुष महत् की प्राप्ति की इच्छा करता हो तो उसे अमावस्या तिथि में दीक्षित होकर पूर्णिमा तिथि की रात्रि में सर्वौषध के मन्थ को दधि और मधु के साथ मिलाकर "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा" इस प्रकार बोल कर अग्नि में घी का हवन कर स्रुवा लगा हुआ द्रव्य मन्थ नामक पात्र विशेष में रख दे।[19] इसी प्रसङ्ग में "वसिष्ठाय स्वाहा", "प्रतिष्ठाय स्वाहा", "सम्पदे स्वाहा", "आयतनाय स्वाहा" नामक मन्त्रों से घृताहुति दे।[20] यह दैनिक क्रियाकलाप का एक अङ्ग था।

एक स्थान पर राजा अश्वपति कहते हैं कि मेरे राज्य में कोई यज्ञ न करने वाला नहीं है।[21] वैश्वानर विद्या के प्रकरण में "प्राणाय स्वाहा", "व्यानाय स्वाहा", "अपानाय स्वाहा", "समानाय स्वाहा" और "उदानाय स्वाहा" आदि मन्त्रों से आहुति देने का प्रावधान है।[22] जो कोई इसको जानता हुआ अग्नि होत्र करता है वह उसी प्रकार है जिस प्रकार अंगारों को हटाकर भस्म में हवन करना।[23]

अध्ययन- अध्ययन को धर्म को प्रथम स्कन्ध के रूप में कहा गया है। उपनिषद् के अध्ययन से विदित होता है कि अध्ययन-क्रम जीवन पर्यन्त चलता था। जीवन का प्रथम चरण अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम का तो उद्देश्य ही शिक्षा प्राप्ति था किन्तु गृहस्थ के लिए भी स्वाध्याय प्रमुख कर्त्तव्य था। वानप्रस्थी भी अरण्यों में रहते हुए अध्ययन-अध्यापन में रत दिखाई पड़ते थे। संन्यासी तो अपना शेष जीवन ब्रह्म विद्या-आत्मविद्या जैसी आध्यात्मिक गुत्थियों के सुलझाने में ही व्यतीत कर देते थे।

मनुष्य ज्ञान के द्वारा न केवल धर्म और काम की प्राप्ति करता है अपितु मोक्ष की भी प्राप्ति करता है। उपनिषद् के अन्त में कहा है कि "जो व्यक्ति आचार्यकुल से वेदों का अध्ययन करके यथा-विधि गुरु के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करके, समावृत्त होकर कुटुम्ब में स्थित हो, पवित्र स्थान में स्वाध्याय करता हुआ, धार्मिक कर्मों को करता हुआ आयुपर्यन्त रहता है वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। तथा पुन: लौट कर नहीं आता। अर्थात् फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं आता।[24] इस प्रकार मानव जीवन की पूर्णता स्वाध्याय में कही गयी है।

दान- छान्दोग्योपनिषद् में विद्या दान को सर्वश्रेष्ठ दान कहा है- "यदि कोई समुद्र से परिवेष्ठित और धन से परिपूर्ण पृथ्वी भी दे तो भी उस दान से यह (विद्या) दान अधिकतर

है।[25] एक प्रसङ्ग में कहा गया है कि राजा जानश्रुति पौत्रायण श्रद्धादायी, बहुदायी और बहुपाकी राजा था। जिसने स्थान-स्थान पर ऐसे आवास स्थान (धर्मशाला) बनवा रखे थे जहाँ पर यात्रीगण विश्राम करते थे तथा निःशुल्क भोजन भी ग्रहण करते थे।[26] पञ्चम प्रपाठक में उल्लेख है कि जो उपासक ग्राम में रहते हुए इष्ट (अग्निहोत्र), आपूर्त्त (धर्मशाला, उद्यानादि) तथा दान करते हैं, वे पितृलोक को प्राप्त करते हैं।[27] प्रस्तुत उद्धरण दानशीलता के सुन्दर और उत्कृष्ट रूप को दर्शाता है।

तप– तप मानव-जीवन का प्रमुख अंग है। तप के आचरण से ही प्रजापति ने लोक-लोकान्तरों को प्रकाशित किया हैं तप के द्वारा ही त्रयीविद्या का आविर्भाव एवं त्रयी विद्या से भूः, भुवः, स्वः तीनों व्याहृतियों के आविर्भाव का कथन है तथा इन व्याहृतियों को अभितप्त करने पर ओंकार रूप ब्रह्म के प्रकाशित करने का वर्णन है।[28] मधु विद्या के प्रकरण में तप से त्रयी विद्या के ज्ञान का विस्तृत वर्णन है। जो कि यश, तेज, ऐश्वर्य, वीर्यादि की प्राप्ति में हेतु है।[29]

चतुर्थ प्रपाठक में भी प्रजापति द्वारा लोकों को लक्ष्य बनाकर ध्यान रूप तप के किये जाने का उल्लेख है। उन तप किये गये लोकों से उन्होंने सार रूप रस निकाले। पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्युलोक से आदित्य को सार रूप में ग्रहण किया। तत्पश्चात् अग्नि से ऋग्वेद्, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद को निकाला।[30] तप आत्मज्ञान की प्राप्ति में एक महत्त्वपूर्ण साधन है। ब्रह्मचारी के लिए तप को दक्षिणा कहा है।[31] ब्रह्मचर्य और तप का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हैं सत्यकाम जाबाल, उपकोसल, इन्द्र और विरोचन आदि के द्वारा जो अनेकों वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, वह स्वयमेव उनके तपोमय जीवन की ओर संकेत हैं।

शंकराचार्य ने तप का अर्थ "कृच्छ्रचान्द्रायणादि" किया है तथा इसे वानप्रस्थ और परिव्राजक का धर्म कहा है। इनके अनुसार परिव्राजक के ज्ञान, यम और नियम तप ही है।[32] किन्तु उन्होंने केनोपनिषद् के भाष्य में "तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम्"[33] कह कर शरीर, इन्द्रिय और मन के समाधान को तप कहा है।

यज्ञ दान एवं तप का परम प्रयोजन साधन के शरीर एवं मन को शुद्ध करना ही है। जैसा कि गीता में भी कहा है- "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"[34] उपनिषद् दान न देने वाले, श्रद्धा न करने वाले तथा यज्ञ न करने वाले व्यक्ति को असुर स्वभाव वाला कहती है।[35] तथा श्रद्धा और तप में लीन रहने वालों को ब्रह्मलोक का अधिकारी बताती है।[36]

ब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्य आश्रम व्यवस्था का अंग होकर समाज से सम्बद्ध है। परन्तु मन, वचन और कर्म से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना धर्म का अङ्ग है। छान्दोग्योपनिषद् में इसे

धर्म के एक स्कन्ध के रूप में वर्णित किया है जो इसके अनुपम महत्त्व को द्योतित करता है। इसकी महत्ता इन्द्रिय संयम की भावना से है।

अष्टम् प्रपाठक में तो ऋषि ने ब्रह्मचर्य को यज्ञ की संज्ञा से अभिहित किया है। जिसको यज्ञ कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि जो ब्रह्मचर्य रूप साधन से ज्ञाता बनता है, वही उसको प्राप्त करता है और जिसको "इष्ट" इस प्रकार कहते हैं। वह भी ब्रह्मचर्य ही है। उस ब्रह्मचर्य रूप साधन के ही द्वारा आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है।[३७]

जो इस ब्रह्म को ब्रह्मचर्य से प्राप्त करते हैं; उन्हीं को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है तथा वे स्वेच्छानुसार लोक-लोकान्तरों में विचरण करता है।[३८] इसी प्रकरण में आगे कहा है कि जो "सत्रायण" इस प्रकार कहा जाता है वह ब्रह्मचर्य ही है। उस ब्रह्मचर्य के द्वारा ही "सत्" त्राण को प्राप्त होता है और जो "मौन" इस प्रकार कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आत्मा को जानकर मनन करते हैं।[३९] जो "अनाशकायन" कहा गया है वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि वह आत्मा नष्ट नहीं होता जिसको ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जाता है। जिसको "अरण्यायन" कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि 'अर' (कर्मकाण्ड) और 'ण्य' (ज्ञानकाण्ड) नामक दो समुद्र हैं जिनके द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकते हैं।[४०]

इसी प्रपाठक में आया है कि आत्मज्ञान के प्राप्त्यर्थ विरोचन ने ३२ वर्ष तथा इन्द्र ने १०१ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था।[४१] तात्पर्य यह है कि यद्यपि यज्ञ, इष्ट, तप आदि अनेक साधन ब्रह्मप्राप्ति में कहे गये हैं परन्तु वे सब ब्रह्मचर्य के द्वारा ही साध्य हैं। अत: ब्रह्मप्राप्ति का मूल कारण ब्रह्मचर्य ही है।

अहिंसा- छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि "अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य:" अर्थात् विद्यालयों से अन्यत्र भी प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[४२] एक अन्य प्रसङ्ग में कहा गया है कि "संवत्सरं मज्जो नाश्नीयात्तद्व्रतम्" वर्ष में कभी मांस न खायें- इस व्रत को धारण करें।[४३]

वस्तुत: प्राणियों की हिंसा की बात दूर रही अपितु वाङ्मात्र से कटुभाषण करने तक को हत्या के सदृश माना गया है। वह यदि पिता, माता, भ्राता, भगिनी, आचार्य अथवा ब्राह्मण आदि किसी को भी कटु वचन कहता है तो उसे लोग कहते हैं कि तुम्हें धिक्कार है। तुम पितृघाती हो और मातृघाती आदि हो।[४४] एक अन्य स्थल पर भी ब्रह्मज्ञानियों के हनन कर्त्ता तथा उसके साथ आचरण करने वाले को पतित कहा है।[४५]

सत्य-सत्य को धर्म की उत्पत्ति में हेतु बताया गया है।[४६] सत्यकाम- जाबाल परिचारिका का पुत्र है। वह हारिद्रुमत गौतम के समीप ज्ञानप्राप्ति के लिए जाता है। ऋषि द्वारा गोत्र पूछे जाने पर वह अपने गोत्र की अज्ञानता का सत्य कथन करता है। गौतम यह कहकर कि

अब्राह्मण सत्यभाषण कहने में समर्थ नहीं हो सकता। तुम सत्य से पृथक नहीं हुए हो, अत: हे सोम्य ! समिधा लाओ। मैं तुम्हारा उपनयन करूंगा।[४७] षष्ठ प्रपाठक में उल्लेख है कि "यदि वह सन्दिग्ध पुरुष चोरी का अकर्त्ता होता है तो सत्य से वह अपनी आत्मा को सत्ययुक्त करता है। वह सत्यवादी पुरुष उस सत्य से अपनी आत्मा को आच्छादित कर तप्त परशु को ग्रहण करता है। वह दग्ध नहीं होता है अत: छोड़ दिया जाता है।[४८] प्रस्तुत प्रसङ्ग से सत्य का आचरण करने वाले के प्रति दिव्यन्याय का कथन सत्यवादी की महिमा को दर्शाता है।

सप्तम प्रपाठक में सनत्कुमार नारद से कहते हैं कि सत्य की जिज्ञासा करनी चाहिए। क्योंकि जब विशेष रूप से जानता है तभी सत्य को कहता है। न जानता हुआ सत्य को नहीं कह सकता।[४९] अष्टम् प्रपाठक में "तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणों नाम सत्यमिति"[५०] अर्थात् उस इस ब्रह्म का निश्चय ही सत्य नाम है। सत्य का निरुक्तिपरक अर्थ है कि 'सत्य' पद में जो 'सत्' है वह अमृत है, जो 'ति' है वह मर्त्य है और जो 'यम्' है वह दोनों का नियमन करता है। जिससे ये दोनों उसके वश में रहते हैं। एवं वित् पुरुष निश्चय ही प्रतिदिन स्वर्गलोक को प्राप्त होता है।[५१] तात्पर्य यही है कि सत्य ब्रह्मस्वरूप है, उसका अच्छी प्रकार जीवन में आचरण करने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है।

अस्तेय- उपनिषद् कहती है कि सोने की चोरी करने वाला, सुरापान करने वाला, ब्रह्मवेत्ताओं का हनन करने वाला, गुरुतल्पगामी तथा जो इन चारों के साथ आचरण करता है वह भी पापी होता है।[५२] ऋग्वेद के एक मन्त्र में भी चोरी, गुरुपत्नी गमन, जुआ, मद्यपान, असत्य भाषण और इनके साथ आचरण कर्त्ता को भी पापी कहा है।[५३] कैकेय नरेश अश्वपति अपने राज्य की स्थिति को बताते हुए कहते हैं कि "मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कृपण है, न मद्यपायी है, न अनग्निहोत्री है और स्वैरी पुरुष और तथा स्वैरिणी नारी भी नहीं है।"[५४] इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के स्कन्ध के रूप में योगदर्शन वर्णित अधिकांश यमों और नियमों का वर्णन किया गया है।

नीतिनिर्देश - नैतिकता धर्म की आधारशिला है। छान्दोग्योपनिषद् में नैतिक आचरणों का उल्लेख मानव के व्रत के रूप में किया गया है।

१- मंगलविधायक धर्म का पालन करना चाहिए।[५५]

२- उदार विचार रखने चाहिए।[५६]

३- अग्नि की ओर मुख करके न तो आचमन करना चाहिए और न थूकना चाहिए।[५७]

४- किसी स्त्री के साथ अशिष्ट व्यवहार नहीं करमा चाहिए।[५८]

५- तप करते हुए की निन्दा नहीं करनी चाहिए।[५९]

६- वृष्टि की निन्दा नहीं करनी चाहिए।[६०]

७- ऋतुओं की निन्दा नहीं करनी चाहिए।[६१]

८- लोक कल्याण की निन्दा नहीं करनी चाहिए।[६२]

९- पशुओं के कल्याण की उपेक्षा न करे।[६३]

१०- कभी मांस का भक्षण न करे।[६४]

११- ब्रह्मज्ञानियों की निन्दा न करे।[६५]

१२- सब में आत्मभाव रखकर व्यवहार करे।[६६]

उपर्युक्त सभी कथन धर्म की भावना से अनुप्राणित हैं। उपनिषद् कहती है कि मानव क्रतुमय प्राणी है। इस लोक में जिस क्रतु (कर्म) अथवा संकल्प वाला होगा, मरने के बाद वह वैसा ही होगा।[६७] आठवें प्रपाठक में कर्मजित लोकों और पुण्यजित लोकों का उल्लेख है। ऋषि का कथन है कि जिस प्रकार इस लोक में कर्मों से प्राप्त लोक (भोग-साधन) क्षय को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार पुण्यजित् लोक भी क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और आत्मा को तथा सत्य कर्मों को जानकर यहाँ से जाते हैं। उनका सब लोकों में कामाचार होता है।[६८]

वस्तुतः धर्म आन्तरिक जीवन का सुसंस्कार करता है। वह मनुष्य को सदाचरण की ओर प्रवृत्त कर अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति में प्रबल सहायक होता है। यह मूल रूप से प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत उपलब्धि है। मनुस्मृति का कथन सत्य है कि "मरने के बाद बन्धु-बान्धव विमुख हो जाते हैं। केवल धर्म ही उस मनुष्य का अनुसरण करता है।[६९]

आपद्धर्म-उषस्ति चाक्रायण (चक्र नामक ऋषि का पोता) ओलों की वर्षा से नष्ट कुरु प्रदेश (मेरठ प्रदेश) में निर्धन अवस्था में अपनी पत्नी के साथ किसी दूसरे ग्राम में जा बसे। उषस्ति को भूख लगी। किसी हाथी वाले से जूठे उड़द खाकर अपनी भूख मिटाई। जब जूठा पानी पीने को दिया तब उषस्ति ने मना कर दिया।[७०] ऐसा प्रतीत होता है कि आपत्ति काल में ही अनुचित आचरण करना चाहिए। आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति। जैसे-तैसे भोजन प्राप्त करके प्राणों की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि प्राणयुक्त शरीर से ही सब पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। मनु का भी कथन है-आपत्तिकाल में जीवनधारण हेतु जो मनुष्य यहाँ-वहाँ से अन्न को ग्रहण कर लेता है वह कीचड़ से आकाश की भान्ति पाप से युक्त नहीं होता।[७१]

राजनीतिक व्यवस्था-छान्दोग्योपनिषद् के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि तत्कालीन राजनीतिक स्थिति शान्तिपूर्ण रही होगी; जिसके परिणामस्वरूप राजा अपना अधिकांश समय आध्यात्मिक ज्ञान-जिज्ञासा में लगाते थे। बड़े-बड़े सभा वेश्म[७२] और समिति[७३] होते थे जहाँ विचार विमर्श तथा सभाएँ नियोजित करते थे। श्वेतकेतु पञ्चालों की समिति में आया। यहाँ समिति का अर्थ राजपरिषद् है।[७४]

द्वितीय प्रपाठक में "सवनत्रय" के प्रसङ्ग में उपासक राज्य[७५], वैराज्य[७६] स्वराज्य[७७] तथा साम्राज्य[७८] की प्राप्ति की कामना करता है जो तत्कालीन विभिन्न प्रकार की शासन प्रणाली की ओर संकेत कर रहा है। मैक्डानल और कीथ ने वैराज्य पद की व्याख्या करते हुए उसको राजतन्त्र का एक प्रकार माना है। इनके अनुसार राज्य, वैराज्य, स्वाराज्य, साम्राज्य इत्यादि शब्द अनिवार्यत: अधिकार अथवा शक्ति के विविध रूपों को व्यक्त करते हैं।[७९] एक प्रसङ्ग में कहा गया है- इतने काल तक वह विद्वान् साध्यों के ही आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त होता है।[८०]

उपनिषद् में आये पाञ्चाल[८१] कैकेय[८२] इत्यादि पदों से विदित होता है कि प्रत्येक राज्य की अपनी निश्चित सीमायें होती थीं, जिनमें विभिन्न प्रकार की राज्यप्रणाली थी और उन पर राज्य करने वाले राजा, अधिपति आदि नामों से जाने जाते थे। प्रजा की सुविधा के लिए नि:शुल्क भोजन और आवास की व्यवस्था होती थी।[८३] राज्यव्यवस्था कठोर होने से राज्य में चोर, मद्यप, स्वैर और स्वैरिणी का अभाव था।[८४] चोरी करने पर चोर को कठोर दण्ड दिया जाता था।[८५] राजा न्यायप्रिय होते थे। राज्यव्यवस्था समुन्नत थी।

सन्दर्भ-

१- वेद और ऋषिदयानन्द, डॉ० श्री निवास शास्त्री, पृ० १७२ ।

२- त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।
छान्दोग्योपनिषद् २/२३/१

तुलना करो- गीता १८/५
यज्ञदानतपः कर्म न व्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।

३- पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति तत्प्रातः सवनम्।
छां० उप० ३/१६/१-४

४- अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। छां० उप० ३/१७/४

५- छां० उप० ३/१६/६ से ३/१७/४

६- क- तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य
तन्मरणमेवास्यावमृथः। छां० उप० ३/१७/५

ख- Bathing at the end of a principal sacrifice for purification :
-Vaman shiv Ram Apte- "Sanskrit English Dictionary".

७- तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय। छां० उप० १/१०/७

८- क- स प्रस्तोतारमुवाच। प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता।
ताञ्चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति।
छां० उप० १/१०/८-९

ख- छां० उप० १/११/४

९- एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता। ताञ्चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति। छां० उप० १/१०/१०

१०- एवमेव प्रतिहर्त्ता रमुवाच। छां० उप० १/१०/११

११- तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनी। छां० उप० ४/१६/१

१२- तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा। छां० उप० ४/१६/२

१३- अन्यतरामेव वर्त्तनिं संस्करोति हीयतेऽन्यतरा। छां० उप० ४/१६/३

१४- तद्यद्यृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये विरिष्टं सन्दधाति। छां०उप० ४/१७/४-६

१५- यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति भेषजकृतो हवा एष। छां० उप० ४/१७/८

१६- ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनम्। छां० उप० २/२४/१

१७- पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन। छां० उप० २/२४/३-६

१८- छां० उप० २/२४/७-१६ तक

१९- छां० उप० ५/२/४

२०- छां० उप० ५/२/५

२१- न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्ययोनानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।। छां० उप० ५/११/५

२२- छां० उप० ५/१६/१ से ५/२३/२ तक

२३- छां० उप० ५/२४/१

२४- आचार्यकुलाद् वेदमधीष्य यथाविधानं गुरो कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विद्धदात्मनि.........एवं वर्त्तयन्यावदायुः षं ब्रह्मलोकभमिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते। छां० उप० ८/१५/१

२५- यद्यप्यस्मा इमाम द्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां पृथिवीं दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति। छां० उप० ३/११/६

२६- जानश्रुतिर्ह श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। सह सर्वत आवस्थान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव में ऽत्स्यन्तीति। छां० उप० ४/१/१

२७- अथ य इमें ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते। छां० उप० ५/१०/३

२८- प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रमीविद्याः सम्प्रास्वत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षरणि सम्प्रास-वन्त भूर्भुवः स्वरिति। तान्यभ्यतपतेभ्योऽमितप्तेभ्य ओंकारः। छां. उप० २/२३/२-३

२९- छां० उप० ३/१/३ से ३/३/२ तक

३०- छां० उप० ४/१७/१ से ४/१७/३ तक

३१- छां० उप० ३/१७/४

३२- तप एव द्वितीयस्तप इति कृच्छ्रचान्द्रायणादि..... परिव्राजकस्यापि ज्ञानं यमा नियमाश्च तप एवेति..........। छां० उप० २/२३/१ पर शांकर भाष्य

३३- केनोपनिषद् ४/८ पर शांकर भाष्य

३४- गीता १८/५

३५- तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्धानमयजमानमाहुरासुरो...।
-छां० उप० ८/८/५

३६- तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति..........। छां० उप० ५/१०/१

३७- अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव.....। छां० उप० ८/५/१
३८- तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति। छां० ८/४/३
३९- अथ यत्सत्त्रयणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्। छां० ८/५/२
४०- छां० ८/५/३
४१- छां० ८/७/३ से ८/११/३ तक
४२- छां० ८/१५/१
४३- छां० उप० २/१६/२
४४- स यदि पितरं व मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वा। छां० ७/१५/२
४५- स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिवंश्च गुरोस्तल्पमावसन्। ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरंस्तैरिति। छां० ५/१०/६
४६- धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है, दया और दान से बढ़ता है, क्षमा में वह निवास करता है और क्रोध से उसका नाश होता है (सत्याज्जायते दयया दानेन च वर्धते, क्षमायां तिष्ठति, क्रोधान्नश्यति)।
-भारतीय संस्कृति-एक समाजशास्त्रीय समीक्षा, गौरी शंकर भट्ट, पं० १०२
४७- नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्याऽऽहरोप त्वानेष्ये। न सत्यादगा इति।-छां० उप० ४/४/५
४८- छां० उप० ६/१६/१२
४९- छां० उप० ७/१६/१ से ७/१७/१ तक
५०- छां० उप० ८/३/८
५१- तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतियमिति तद्यत् "सत्" तदमृतमयं यत् "ति" तन्मर्त्यमथ यत् "यम्" अहरहर्वा एवं वित् स्वर्गलोकमेति। -छां० उप० ८/३/५
५२- छां० उप० ५/१०/६
५३- सत्प मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदमभ्यंहुरोगात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडेपथो विसर्गे धरुणेषुतस्थौ।। -ऋग्वेद १०/५/६
५४- छां० उप० ५/११/५
५५- साधवोधर्माः च गच्छेपुरुष च नमेयुः। छां० उप० २/१/४
५६- महामनाः स्यात्तद्व्रतम्। छां० उप० २/११/२
५७- न प्रत्यङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/१२/२
५८- न काञ्चन परिहरेत्तद् व्रतम्। छां० उप० २/१४/२
५९- तपन्तं न निन्देत् तद् व्रतम्। -छां० उप० २/१४/२
६०- वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/१५/२
६१- ऋतून् न निन्देत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/१६/२
६२- लोकान् न निन्देत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/१७/२
६३- पशून् न निन्देत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/१८/२
६४- संवत्सरं मज्जो नाश्नीयात्तद्व्रतम्। छां० उप० २/१६/२
६५- ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम्। -छां० उप० २/२०/२
६६- सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम्। -छां उप० २/२१/४
६७- अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। -छां० उप० १/१४/१

६८- तद्यथेह कर्मजितोलोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितोलोक क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति। -छां० उप० ८/१/६

६६- मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं स्थितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति।।
-मनुस्मृति ४/२४१

७०- न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति। न वा अजीविष्यमिमानरवादन्निति होवाच। कामो म उदपानमिति।।
-छां० उप० १/१०/४

७१- जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते।। मनुस्मृति १०/१०४

७२- प्रजापतेः सभावेश्म प्रपद्ये। -छां० उप० ८/१४/१

७३- श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समितिमेयाय तं ह प्रवाहणो जैबलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति। - छां० उप० ५/३/१ से ५/१०/१० तक

७४- उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति, डॉ० विजय बहादुर राव, पृ० १६६

७५- लोकद्वारमपावार्णू पश्येम वयं राज्याय। छां० उप० २/२४/४

७६- लोकद्वारमपावार्णू पश्येम त्वा वयं वैराज्याय। छां० उप० २/२४/८

७७- लोकद्वारमपावार्णू पश्येम त्वा वयं स्वाराज्याय। छां० उप० २/२४/१२

७८- आदित्यमथ वैश्वदेवं लोकद्वारमपावार्णू पश्येम त्वा वयं साम्राज्याय। छां० उप० २/२४/१३

७६- मैक्डानल और कीथ- वैदिक इण्डेक्स, भाग-२, पृ० २४७

८०- एता साध्यानामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता। छां० ३/१०/४

८१- श्वेतकेतुर्हारुणेय पञ्चालानां समितिमेयाय। छां० उप० ५/३/१

८२- तान् होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः सम्प्रति। छां० उप० ५/११/४

८३- जानश्रुति हे पौत्रायणः श्रद्धादेयोबहुदायी। छां० उप० ४/१/१

८४- छां० उप० ५/११/५

८५- अहार्षीत स्तेयमकार्णीत् परशुमस्मै तपतेति। छां० उप० ६/६/१

ऋग्वेदीय धर्म एवं राजनीति

डॉ0 दुर्गाप्रसाद मिश्र
संस्कृत – विभाग
मेरठ कॉलेज, मेरठ

भारतीय संस्कृति में धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। धर्म वस्तुतः भारतीय संस्कृति का प्राण है। अति प्राचीन काल से धर्म को एक प्रेरक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। भारत वसुन्धरा अनेक धर्मों तथा सम्प्रदायों की क्रीड़ा-स्थली रही है। धार्मिक सहिष्णुता का जो आदर्श हमें यहाँ देखने को मिलता है वह विश्व की अन्य संस्कृति में दुर्लभ है।

प्राचीन भारतीयों के धर्म के विषय में निश्चित ज्ञान हमें सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है जिसमें वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषद् की गणना की जाती है। वैदिक साहित्य का निर्माण करने वाले ऋषि धार्मिक वृत्ति से ओत प्रोत थे, धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर ही उक्त साहित्य का सृजन किया। वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें जिन देवताओं की स्तुति में बहुत से मन्त्र लिखे गए हैं, वे भौतिक शक्तियों के रूप में एक सर्वोपरि सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रकृति-पूजा वेदकालीन धार्मिक जीवन का आदि स्रोत है। मनुष्य अपनी सांस्कृतिक बाल्यावस्था में प्रकृति के विभिन्न रूपों को देख कभी प्रसन्न हुआ, कभी भयभीत हुआ और कभी स्तम्भित। आर्य अनेक देवताओं के अस्तित्व पर विश्वास करते थे। प्रत्येक देवता को संसार के सृस्टा तथा नियत्ता के रूप में दर्शाया गया है। वैदिक ऋषियों ने विभिन्न देवताओं की पृष्ठ भूमि में एक सर्वोपरि व सर्वनियामक सत्ता की कल्पना की और- 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' द्वारा एकेश्वर-वाद का सूत्रपात किया। यही एकेश्वर वाद बाद को सर्वेश्वरवाद का स्वरूप धारण कर लिया। जिसका विकास आगे 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' आदि वचनों में हुआ।

वैदिक धर्म की एक विशेषता यह थी कि इसमें जिस देवता की स्तुति की गई उसी को सर्वश्रेष्ठ सर्वोपरि मान लिया गया। कभी वरूण कभी इन्द्र को सर्वोपरि मानकर अन्य देवताओं की उत्पत्ति इनसे मानी गई है। देवताओं की बहुलता से घबड़ाकर ही शायद वैदिक ऋषि ने 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का विधान किया। देवताओं की संख्या सीमित करते हुए द्यावापृथिवी, मित्रावरुण, उषारात्रि आदि सूक्तों का प्रणयन किया। चिन्तन के अन्तिम चरण में यह महत्त्वपूर्ण तथ्य खोज निकाला कि परम तत्त्व (सत्) एक ही है। जिसे ज्ञानी लोग अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामों से जानते हैं।

वैदिक युग में धार्मिक जीवन में प्रारम्भ से ही दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती है।

(१)भक्ति की धारा (२) यज्ञीय कर्मकाण्ड की धारा। देवताओं की स्तुति भक्ति भाव से ओतप्रोत है। उससे ऐहिक सुख, समृद्धि आदि के लिए प्रार्थना की गई है वरूण, इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं से सम्बन्धित वेदमन्त्र इसी प्रकार की भक्ति के प्रतीक हैं। यहीं से वैदिक युग के वाद की भक्ति-धारा प्रवाहित हुई।

वेदों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन धार्मिक जीवन में यज्ञ का क्रिया कलाप कितना व्यापत हो गया था। ऋग्वेद का प्रारम्भ ही यज्ञ की भाषा में होता है। मधुच्छंदा ऋषि कहते हैं- 'मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ, जो पुरोहित हैं, यज्ञ के देव हैं, ऋत्विक् हैं, होता है तथा रत्नों के भण्डार हैं', यज्ञ का प्रभाव राजशक्ति पर भी पड़ा और राजाओं को भी राज्याभिषेक द्वारा मूर्धाभिषिक्त होना पड़ता था तथा अश्वमेघ यज्ञ द्वारा चक्रवर्ती की पदवी प्राप्त करनी पड़ती थी।

मानव व्यतिरिक्त अन्य प्राणि-वर्ग अपनी जिस स्वाभाविक गति से चलता है उसमें न धर्म का ध्यान है न अधर्म का। धर्म और अधर्म की चर्चा मानव समाज में ही की जाती है। मानव की ऊर्ध्व चेतना ही शुभ और अशुभ में भेद कर सकती है। नीतिशास्त्र, सदाचार के नियम इसी हेतु मानव ही के लिए हैं।

वेदकालीन राजनीति पर विचार करने के पूर्व एक भ्रान्त धारणा को समझना अत्यावश्यक है। वैदिक विद्वानों का मन्तव्य है कि वेद कालीन आर्य विभिन्न जातियों तथा कबीलों में बंटे हुए थे।[२] ऋग्वेद[३] में यत्र तत्र अनेकों नाम उल्लिखित हैं जिनको जाति-सूचक माना गया है। ऋग्वेदीय पञ्चजना:[४], पञ्चकृष्टय:[५], पञ्चचर्षणय:[६], पञ्चक्षितय:[७] आदि शब्द बार बार उल्लिखित हैं। इतिहास के विद्वान् इन शब्दों का अर्थ पाँच जातियाँ या कबीले करते हैं तथा यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु व पुरु को उनसे सम्बन्धित करते हैं। किन्तु इसका अर्थ साधारणतया पृथ्वी का समस्त जनसमुदाय किया गया है। यदु आदि जातिसूचक न होकर राजाओं के नाम हैं जैसा कि पुराण वाङ्मय में वर्णित है। प्रो० रामदेव जी के अनुसार आर्यों के कई प्रकार के राज्य थे जिनमें सार्वभौम राज्य सर्वोपरि था।[८]

वैदिक साहित्य का सिंहावलोकन करने पर हमें दो प्रकार की नीतियाँ दिखाई पड़ती हैं। प्रथम सरल एवं निष्कपट व्यवहार जो शत्रु से भी वैसा ही किया जाता है जैसे मित्रों से। वैदिक वाङ्मय में सामान्यत: इसी नीति के पालन एवं प्रेरणा की प्रार्थनाएँ प्राप्त होती हैं। दूसरी छल छद्म युक्त नीति जो सदैव शत्रुओं से ही व्यवहार की जाती है, विशेषकर छली शत्रुओं के साथ। इन्द्र सम्बन्धी सूक्तों में अनेकत्र इसके वर्णन प्राप्त होते हैं। आचार्य सायण ने इन्हें शर्धनीति एवं वर्णनीति कहा है। वेद में इन्द्र शब्द से राजा के गुणों को स्पष्ट किया गया है। ऋषि दयानन्द भी यजुर्वेद[९] में इन्द्र का अर्थ सभापति करते हैं।

वैदिक साहित्य के सिंहावलोकन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन राजनैतिक

व्यवस्था की इकाई ग्राम था जिसका अधिकारी ग्रामणी था, गोत्र या गोष्ठी इसके अंग थे। ग्रामीण जनता की रक्षा करना, उनको संगठित रखना, ग्राम में शान्ति व्यवस्था रखना इसका मुख्य कार्य था। अनेक ग्रामों को मिला कर विश बनता था जो अनेक ग्रामों का समूह था, इसका अधिकारी विश्पति कहलाता था। विभिन्न विशों के समुदाय को जन कहते थे जिसका सत्ताधीश राजा था। जो वंशक्रमागत था या जिसका चुनाव होता था। वरुण को बहुधा राजा शब्द से सम्बोधित किया गया है। वरुण नैतिक नियमों का नियामक था उसके गुप्तचर सर्वत्र वर्तमान थे जिनकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता था उसके बन्धन पापी अत्याचारियों के लिए शक्तिशाली थे।[११] ऋग्वेद में अनेक राजाओं का उल्लेख आता है जिससे विभिन्न राज्यों या राष्ट्रों का ज्ञान होता है। इस समय के राज्यों में अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश, पुरु, तृत्सु, भरत आदि हैं। अन्य राज्यों में क्रिवि (सिन्धु के तट पर) कीकट (मगध) चेदि (यमुना) मत्स्य का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

शासन पद्धति : शासन सम्बन्धी विभिन्न संविधान प्रचलित थे। राजपद निरंकुश नहीं था। सभा[१२] समिति[१३] आदि संस्थाओं द्वारा राजपद को संचालित व नियंत्रित किया जाता था। सभा समिति ने एक प्रकार से जनतांत्रिक वातावरण निर्मित कर दिया था अत: जनतंत्रात्मक शासन प्रणाली का उदय हुआ। यजुर्वेदीय स्वराट्[१४] व विराट्[१५] शब्द प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली के द्योतक हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में तो आठ[१६] प्रकार के संविधानों का उल्लेख मिलता है।

वैदिक काल के राजा के कर्त्तव्यों व उत्तरदायित्वों को साधारणतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. राज्य की आन्तरिक व्यवस्था प्रजाहित, पालन आदि से सम्बन्धित कर्तव्य

२. राज्य की वैदेशिक नीति से सम्बन्धित कर्त्तव्य। दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों का सुन्दर विवेचन ऋग्वेद के वरुण तथा इन्द्र से सम्बन्धित सूक्तों में किया गया है। वरुण देवता की कल्पना के समय ऋषि के मन में तत्कालीन आदर्श राजा की घरेलू नीति का चित्र था तथा इन्द्र की कल्पना के समय उसकी वैदेशिक नीति का चित। ऋग्वेद में वरूण को नैतिकता का देवता माना गया है। उसके नैतिक नियमों को ऋत् कहा गया है। ऋत् का अर्थ है सत्य तथा अविनाशी सत्ता। इसके द्वारा विश्व में सुव्यवस्था एवं प्रतिष्ठा स्थापित होती है। ऋत् विश्व व्यवस्था का नियामक है। देवता ऋत् के स्वरूप हैं अथवा ऋत् से उत्पन्न हुए हैं तथा वे अपनी दैवी शक्तियों के द्वारा ऋत् की रक्षा करते हैं। ऋत् एक विश्व व्यापी भौतिक एवं नैतिक व्यवस्था है। जो लोकहितकारी सुदृढ़ है जिसमें गुप्तचर, दूत आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन्द्र का वृत्र या अहि पर आक्रमण, अग्नि, सोम, विष्णु द्वारा सहायता करना, तत्कालीन राजाओं द्वारा दस्युओं से

किये गये युद्धों का भास कराते हैं। वस्तुत: यह आर्य एवं दस्यु युद्ध की प्रतिच्छाया कहा जा सकता है। इन्द्र का यह स्वरूप हमारी वैदेशिक नीति का द्योतक है।

धर्म का आधार नीति है। नीतिशास्त्र धर्म और अधर्म, सदाचार और कदाचार, शुभ और अशुभ, भद्र और अभद्र के विवेचन से सम्बद्ध है और अधर्म के स्थान पर धर्म की प्रतिष्ठा करने वाला है। उसने शुभ को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाया है और इस रूप में मानव के सामने एक आदर्श की स्थापना की है जो समस्त सद्गुणों का आश्रय है। धार्मिक प्राणी इसी को ईश्वर के नाम से पुकारते हैं। महर्षि कणाद ने धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है- 'यतो अभ्युदयनि: श्रेयस् सिद्धि: स धर्म: जो मानव को अभ्युदय और नि:श्रेयस् की सिद्धि करा दे वही धर्म है। अभ्युदय मानव सभ्यता की प्रगति का द्योतक है जिसमें ऐश्वर्य, काम और यश की प्रधानता है। वेद मानव को दीन नहीं अदीन बनाना चाहते हैं- अदीना: स्याम शरद: शतम्। राष्ट्र सत्य एवं धर्म पर आधारित तथा लोक कल्याणकारी होना चाहिए।[१७] राजा को राष्ट्र की रक्षा, धन का श्रेष्ठ वितरण, कृषि वाणिज्य आदि पर नियंत्रण, श्रेष्ठ आचरण की वृद्धि, दुष्टों का दमन तथा सज्जनों की रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए।

राजनीति को सामान्यत: कुटिल नीति माना जाता है परन्तु वेदों के अनुसार राजनीति कूटनीति न होकर ऋजुनीति होनी चाहिए। वेद ऋजुनीति का विवेचन इस प्रकार करते हैं-

ऋजुनीति नो वरुणो मित्रोनयतु विद्वान्। अर्यमा देवै: सजोषा: त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनुनेषि पन्थाम् तव प्रणीती पितरौ न इन्द्रो देवेषु रत्नमभजन्त धीरा:। (ऋ० १.९०.१, १.९१.१) राजा प्रजा में जिन श्रेष्ठ गुणों की कामना करे उन गुणों को पहले स्वयं धारण करे। राजा जनता के लिए परमेश्वर का प्रतिनिधि तुल्य है जैसे परमेश्वर में अनेक दैवी गुणों और शक्तियों का निवास है वैसे ही राजा भी विभिन्न दिव्य शक्तियों को धारण करके देदीप्यमान, प्रतापी और प्रजा के लिए पितृवत् पालन और रक्षा करने वाला हो। राजनैतिक जीवन में सभा व समिति का महत्त्वपूर्ण स्थान था।[१८]

वैदिक युग में कदाचित् विशुद्ध रूप में गणतंत्र का अस्तित्व न रहा हो किन्तु राजतन्त्र के रहते हुए भी राजनैतिक वातावरण पूर्णत: जनतांत्रिक था। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में धर्म एवं राजनीति शासन (सत्ता) का एक विश्लेषक पक्ष है जिसमें धर्म मानव मात्र का कल्याण है तथा राजनीति प्रजा हित में राजा द्वारा सम्पादित कार्य हैं। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होते हुए भी प्रजा का रक्षक, पालक है। वह निरंकुश न हो जाए इसीलिए उसे समस्त कार्यों का सम्पादन धर्म पूर्वक करने का विधान किया गया है।

सन्दर्भ

१. अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्। ऋग्वेद १/१/१.

२. (क) वैदिक एज-(भारतीय विद्या भवन) पृ० २४५-२५०
(ख) ऋग्वैदिक कल्चर-ए०सी०दास-पृ० ४५, ३५२-३६७.

३. ऋ० ७/१८/६-२०

४. ऋ० ३/५६/८, ८/३२/७२, ६/६५/२३, १०/४५/६.

५. ऋ० २/२/१०, ४/३८/१०, १०/६०/६, १०/१६६/६.

६. ऋ० ५/८६/२, ७/१५/२, ६/१०१/६.

७. ऋ० १/७/६, १/१७६/३, ५/३५/२, ६/४६/७, ७/७५/४, ७/७६/१.

८. भारतवर्ष का इतिहास खण्ड २ पृ० ३३७.

९. यजु० ३/१५.

१०. अबुहने राजा वरूणो वनस्योर्ध्वं। ऋ.१/२४/७
उरूं हि राजा वरूणश्चकार। ऋ.१/२४/८
अवैनं राजा वरूणः ससृज्य। ऋ. १/२४/१३.

११. ऋ. १/२५/१/२१

१२. ऋ. ८/४/६, १०/७१/१०, ७.१.४.

१३. १/६५/८, ६/६२/६, १०/६७/६.

१४. यजु० १५/१३.

१५. यजु० १५/११.

१६. ऐ० ब्रा० ८/३/१४.

१७. अथर्व० १२.१.१.

१८. ऋ० ६/६२/६

वेद-वर्णित राष्ट्र-धर्म

डा० वीनेश अग्रवाल
गुरुकुल कांगड़ी वि०वि०, हरिद्वार

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' कहकर मनुजी महाराज ने वेद को धर्म का मूल उद्घोषित किया है। किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिवार समाज, अथवा राष्ट्र को धारण करने वाला तत्त्व धर्म है। 'धारणाद् धर्म इत्याहु:' 'धर्मो धारयते प्रजा:' 'धर्मो रक्षति रक्षित:' इत्यादि वचनों से धर्म का महत्त्व सुस्पष्ट हो जाता है। धर्म के बिना कोई व्यक्ति, समाज या राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता ।धर्म शब्द बहुत व्यापक है। जैसे पिता और पुत्र का, गुरु और शिष्य का, पति और पत्नी का भाई और बहिन का धर्म अर्थात् कर्त्तव्य। वैसे ही जिस राष्ट्र में हम रहते हैं, उस राष्ट्र का भी कोई धर्म है। राष्ट्र धर्म का अभिप्राय है- राष्ट्र में निवास करने वाले नागरिकों का धर्म। वेद में इस राष्ट्र धर्म का निरूपण अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में हुआ है। यजुर्वेद का निम्नमन्त्र राष्ट्र धर्म का साङ्गोपाङ्ग और स्पष्ट वर्णन करता है-

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् । आ राष्ट्रे राजन्य: शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानडवानाशु: सप्ति: पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा, सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे न: पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधय: पच्यन्ताम् । योगक्षेमो न: कल्पताम्।। यजु० २२।२२

अर्थात् विश्वभावन ब्राह्मण ब्रह्म तेज से सम्पन्न हों। राष्ट्र में क्षत्रियगण शूरवीर, धनुर्धर, रोगमुक्त और महारथी हों। गायें दुधारू, बैल भारवाहन में सक्षम, अश्व शीघ्रगामी, नारियां शोभामयी रथी विजयशील हों और इस यजमान का युवा पुत्र निर्भय वीर हो। आवश्यकतानुसार वर्षा हो, वनस्पतियां फलवती हों और हमारा योग क्षेम हो।

अथर्ववेद का भूमि सूक्त इस दृष्टि से प्रत्येक राष्ट्रवासी के लिए पठनीय हैं। राष्ट्र-धर्म का जैसा हृदयस्पर्शी वर्णन इस सूक्त में हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं है। एक-एक मन्त्र देश प्रेम से भरा हुआ है। 'माता भूमि: पुत्रो ऽहं पृथिव्या:' यह भूमि मेरी माता है और मैं इस पृथिवी माता का पुत्र हूँ। यही है वह भावना, जिससे भावित होकर देशभक्त अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता और अस्मिता की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं।

भूमि सूक्त में राष्ट्रोन्नति के उपाय निरूपित करते हुए कहा गया है-

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु (अथर्व० १२।१।१)

अर्थात बृहत् सत्य, उग्र ऋत, (सत्यकर्म, सत्य ज्ञान) दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ पृथ्वी को धारण करते हैं।

राष्ट्र भावना के मूलाधार हैं- एक देश (भौगोलिक एकता) एक केन्द्रीय शासन (संगठनात्मक एकता) एक संस्कृति (भावना की एकता) एक सभ्यता (ऐतिहासिक एकता) और एक भाषा (अभिव्यक्ति प्रणाली की एकता) वेदों में इन सबका विस्तृत वर्णन किया गया है।[१]

राष्ट्र

उपर्युक्त पांचों आधारों का, अथवा और भी संक्षेप में कहें तो, देश और राज्य के संगठनात्मक ऐक्य का नाम 'राष्ट्र' है।[२] राष्ट्र देश की समग्रता, भावात्मक संगठन और राजनीतिक एकता का द्योतक है- यह इस तथ्य से प्रकट होता है कि ऋग्वेद में सामाजिक संगठन की पांच क्रमिक विकास भूमियां बतायी गयी हैं। इनकी प्रथम इकाई 'कुल' कहलाती है, यह कुलप के संरक्षण में परिवार के सदस्यों के अनुशासन बद्ध संगठन का नाम है।[३] कुलों का समूह 'ग्राम' कहलाता है।[४] जो ग्रामणी के नेतृत्व में काम करता है। ग्राम से बढ़कर 'विश्' नामक समूह होता है, जिसका मुखिया 'विश्पति' कहा जाता है।[५] जैसे आजकल अनेक ग्रामों की एक बड़ी पंचायत होती है, वैसे ही पहले विश् रहे होंगे। विश् के नागरिक विट् कहलाते थे ये एक विश् से दूसरे विश में आते-जाते रहते थे। विश् से बृहत्तर समूह 'जन' कहलाता है।[६] 'जन' राजा के शासन-तन्त्र से सीधा सम्बन्ध रखता होगा, क्योंकि राजा को 'जनरक्षक' कहा गया है।[७]

राष्ट्र से भी बृहत्तर 'साम्राज्य' होता है। इसके शासकों को क्रमिक उच्चता के अनुसार अधिराज, राजाधिराज, एकराट्, सम्राट, स्वराट, विराट् और सर्वराट् कहा जाता है। ये अपना पद-गौरव-प्रदर्शन करने के लिए राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरूषमेध सर्वमेध आदि यज्ञ करते थे।[८]

ऐतरेय ब्राह्मण में तत्कालीन शासन-पद्धतियों का भी उल्लेख है।[९] 'भौज्य' एक विशेष प्रकार का गणराज्य था। 'स्वाराज्य' राष्ट्रपति की प्रधानतावाला गणराज्य था।[१०] स्वाराज्य से विपरीत 'वैराज्य' गणतन्त्र राष्ट्रपति रहित होता था।[८] जहां किसी व्यक्ति विशेष में ही शासन की प्रभुसत्ता रहती थी उसे 'राज्य' कहते थे। अनेक राज्यों को अधीन रखने वाले शासन का नाम 'साम्राज्य' था।

राष्ट्र की इस प्रकार की संरचना में भौगोलिक एकता का विचार प्रमुख हैं। राजा

भूमि की रक्षा करने की शपथ लेते हुए कहता था- 'हे पृथ्वीमाता ! तुम मेरी हिंसा न करो और मैं तुम्हारी हिंसा न करूं।' भाव यह कि देश और राजा इस प्रकार परस्पर हितैषी हों जैसे माता और पुत्र।[११] देश एक भावात्मक सत्ता भी है और इस शब्द से जितना भौगोलिक सीमा का बोध होता है, उतना ही या प्रसङ्गानुसार उससे भी अधिक 'प्रजा' का कथन होता है। इसीलिए कहा है कि 'प्रजा' ही राष्ट्र है'।[१२] राष्ट्र के विचार में प्रजा का विचार ही सब कुछ है। प्रजा के हित और संरक्षण में ही राष्ट्र की सुरक्षा है। प्रजा की समृद्धि, धन धान्य, सम्पन्नता, नीरोगता, संक्षेप में शोभा और दीप्ति ही राष्ट्र का वास्तविक राष्ट्रत्व है।[१३] इनसे विहीन राष्ट्र राष्ट्र कहलाने का अधिकारी नहीं। जब प्रजा-हित ही राष्ट्र का सर्वस्व है, तब प्रजा को ही अपना हित देखने का वास्तविक अधिकार है। अत: वेदों ने राष्ट्र की प्रभुसत्ता प्रजा में रखी हैं। धर्म, यज्ञ और राज दण्ड प्रजा के भावात्मक प्रतीक माने जाते हैं। अभिषेक के समय सविता, अग्नि, सोम, बृहस्पति, इन्द्र, रूद्र, मित्र और वरूणकों आहूतियां दी जाती हैं। इनमें सविता धर्म-पालन, सोम कृषि और वनस्पति की समृद्धि, रूद्र-पशुरक्षण और वरूण धर्म-रक्षण की शक्ति प्रदान करते हैं। ये शक्तियां राजा और प्रजा का हित-साधन करने के लिये हैं। वैदिक विचार धारा में राजा की विशेषता उसके धर्म संस्थापक रूप में है। प्रजाओं का सच्चा अधिपति धर्म है, राजा तो दण्ड (शासन) का वह रूप है जो धर्म की संस्थापना और रक्षा करता है। राजा को राज्य एक धरोहर की भांति सौंपा जाता है। अपने उपभोग के लिये नहीं, अपितु कृषि वृद्धि के लिए और सर्वविध पोषण द्वारा प्रजा के कल्याण के लिये।[१४] राजा एक ट्रस्टी के समान है, राजा का अभिषेक संस्कार भी यह प्रकट करता है। सत्रह स्थानों से सम्भृत जलों से राजा का अभिषेक कराया जाता है। यह भी प्रतीकात्मक संस्कार है। समुद्र जल प्रजाओं के प्रति भक्ति का संकेत करता है, परिवाही जल भूमा या समृद्धि की प्रेरणा देता है और स्थावर हृद का जल राजा के प्रति प्रजा की दृढ़ भक्ति का विश्वास दिलाता है।

वैदिक वाङ्मय में वर्णित राज्याभिषेक की विधि से यही सिद्ध होता है कि राजा को सदैव प्रजा के कल्याण में ही तत्पर रहना चाहिये। राजा को सब प्रकार की सुविधाएं, अधिकार प्राप्त होने पर भी उससे संयमी, ब्रह्मचारी और तपस्वी होने की अपेक्षा की जाती है।[१५]

राज्य संचालन के लिए सभा, समिति और मन्त्रिपरिषद् का गठन किया जाता था। **चर्तुवण** राज्याभिषेक के समय चारों वर्णो के मनुष्य उपस्थित रहते थे। सबके मध्य पुरोहित यह घोषित करता है कि 'सब प्रजाओं का राजा यह व्यक्ति है, किन्तु ब्राह्मणों का राजा सोम हैं।[१६] धर्म का प्रतिनिधि ब्राह्मण है, अत: ब्राह्मण क्षत्र से ऊपर है इसीलिए ब्राह्मणों की गणना प्रथम होती है।[१७] वेद का अध्ययन-अध्यापन करने से

ब्राह्मण और भी ऊँचे है, देवतुल्य है।[१८] अत: कहा गया है कि ब्राह्मण के अपमान से राष्ट्र का नाश हो जाता है।[१९] क्षत्रिय प्रजा को धर्म पथ पर लाता है और ब्राह्मण उसे धर्ममय बनाता है। क्षत्र-ब्रह्म दोनों ही प्रजाओं में धर्म को धारण कराते हैं, अत: दोनों में पूर्ण सौमनस्य होना चाहिए। दोनों की परस्पर प्रतिष्ठा होती है।[२०] बुद्धि और क्रिया का सामन्जस्य हुए बिना कोई कार्य ठीक नहीं हो सकता, राष्ट्र उन्नति पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। अत: ब्राह्मण और क्षत्रिय को मिलकर देशहित में लगे रहना चाहिये।[२१]

ब्राह्मण और क्षत्रिय ही नहीं, वैश्य और शूद्र भी राष्ट्र के साथ सौमनस्य रखें, चारों वर्णों में परस्पर सौहार्द हो, वे एक मन से तथा मिल जुलकर कार्य करें। वेद में अनेक स्थानों पर यह शिक्षा दी गई है। अत: अपने धर्म वा कर्त्तव्य में लगे रहकर सभी को सब के प्रति मित्रभाव रखना चाहिए।[२२]

परिवार-यजुर्वेद का 'योषा' शब्द पारिवारिक सौमनस्य की अनिवार्यता प्रकट करता है। राष्ट्र में सहृदयता के विस्तार का प्रथम सोपान परिवार ही है। व्यक्ति सर्वप्रथम परिवार में ही आत्मविस्तार करता है। यही वह अपने क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठने का अभ्यास करता है और परहित साधन में लगना सीखता है।

व्यष्टि धर्म-वेदों में जहां राष्ट्र धर्म के सम्बन्ध में समष्टि गत चिन्तन हुआ है वहां व्यष्टिगत राष्ट्र धर्म का भी सम्यक् निरूपण हुआ है। अथर्ववेद के सौमनस्य सूक्त में 'न:' शब्द का तीन बार प्रयोग प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत योगक्षेम, आरोग्य, पुष्टि, तेजस्विता, परिश्रमशीलता आदि की कामना करता है। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि मनुष्य का शरीर चट्टान जैसा सुदृढ़ हो।[२३] और वह तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु तथा सह से परिपूर्ण हो।[२४] अनुचित कार्य को देखकर उत्पन्न होने वाला क्रोध 'मन्यु' है तथा विरोधी पर विजय पाने में समर्थ शक्ति का नाम 'सह' है। यह भी उपदेश है कि परिश्रम किये बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, देव भी सहायता नहीं करते।[२५] अत: उन्नतिशील जीवन की प्राप्ति के लिए उद्यमी होना चाहिए।[२६]

इस प्रकार वेद में विशद रूप में व्यष्टिगत, समष्टिगत राष्ट्र धर्म का सुन्दर निरूपण किया है।

सन्दर्भ–

(१) द्रष्टव्य- श्री राधा कुमुद मुकर्जीकृत 'हिन्दू-सभ्यता' अध्याय ३-४
(२) ऋग्वेद- ४।४२।१
(३) ऋग्वेद-१०।१७६।६
(४) ऋग्वेद-१।४४।१०, ३।३३।११, १०।६२।११
(५) वही १।३७।८

(६) वही २।२६।३, १०।८४।२, १०।६१।२

(७) ऋग्वेद-३।४३।५ 'गोप्ता जनस्य'

(८) अथर्व० ३।१।४, ऐत० ब्रा० ८।१५

(६) ऐत० ब्रा० ८/३

(१०) तौत्तिरीय ब्रा० १।३।२२

(११) शतपथ ब्रा० ५।४।३।२० और टीका

(१२) 'राष्ट्राराणि वै विशः।'- ऐत० ब्रा० ८।२६

(१३) 'श्री वैं राष्ट्रम्'। शत ब्रा० ६।७।३।७

(१४) इयं ते राट्...................यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि वरूण।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।। शत० ब्रा० ५।२।१।२०

(१५) ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। अथर्व० ११।५।१७

(१६) शत ब्रा० ५।३।३।१२

(१७) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। पुरुष सूक्त

(१८) शत० ब्रा० २।२।२।६

(१६) उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।
परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते।। अथर्व० ५।१६।६

(२०) ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम्। क्षत्रें ब्रह्म। ऐत० ब्रा० ८/२

(२१) यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं देशं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ।। यजु० २०।२५

(२२) मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु० ३६।१८

(२३) अश्मा भवतु नस्तनूः यजु० २६।४६

(२४) तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि।। यजु० १६/६

(२५) 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'। ऋग ४।३३।११

(२६) 'कृधी न उर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे'। ऐत० ब्रा० २/२

तुलसी के काव्य में धर्म और राजनीति

डॉ0 मृदुल जोशी
प्रवक्ता (हिन्दी विभाग)
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ऋषिकेश

'हिन्दू धर्मकोश' में 'धर्म' को किसी वस्तु की विधायक आन्तरिक वृत्ति के रूप में परिभाषित किया गया है। प्रत्येक पदार्थ का व्यक्तित्व जिस वृत्ति पर निर्भर है, वही उस पदार्थ का 'धर्म' है।[1] वैशेषिक दर्शन ने धर्म की अत्यन्त वैज्ञानिक परिभाषा दी है- 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।' अर्थात् धर्म वह है जिससे इस जीवन का अभ्युदय और भावी जीवन में निःश्रेयस की सिद्धि हो। 'धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः' के अनुसार जो धारण किया जाये, वही धर्म है। धारण वही वस्तु, व्यवहार या चिनतन-पद्धति की जा सकती है, जिससे जीवन में उन्नति हो, उत्कर्ष हो। स्थूल रूप से 'धर्म' के दो रूप माने जा सकते हैं- (१) जीवन-शैली, (२) उपासना-पद्धति। मनुष्य को कैसी जीवन-शैली अपनानी चाहिए, इस विषय में प्राचीन मनीषी, चिन्तकों ने विस्तार से चर्चा की है इसके अन्तर्गत व्यवहार, विचार, कर्त्तव्य-सबका समावेश हो जाता है। समाज में, पारस्परिक सौहार्द, सौमनस्य, शान्ति और सुव्यवस्था हेतु धैर्य, क्षमा, दमन, अस्तेय, शुचिता, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध-शून्यता को धर्म के सर्वमान्य लक्षणों के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] मनु ने श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा के सन्तोष को धर्म की कसौटी माना है।[3]

अग्रेता ऋषि, मनीषियों के चिन्तन के अनुकूल ही तुलसी ने अपने काव्य में 'धर्म' को-जीवन शैली और उपासना-पद्धति (religion) दोनों रूपों में ग्रहण करते हुए व्यापक अभिव्यक्ति दी है। तुलसी का चिन्तन आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना कि उनके लेखन-काल में रहा होगा। धर्म की जितनी अनुपम व विशद् अवधारणा तुलसी काव्य में मिलती है, अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने स्मृतिकार के अनुरूप ही मनुष्य के वे सभी गुणों और व्यवहार को धर्म की संज्ञा दी है जो उसकी आत्मिक उन्नति में सहायक तथा समाज के लिये उपादेय हैं। इसीलिये वे सत्य,[4] परोपकार,[5] दया[6], अहिंसा[7], तप, दान[8], इत्यादि को 'धर्म' की संज्ञा देते चले हैं। इन सभी जीवन मूल्यों के अनुपालन में 'श्रद्धा'[9] की भूमिका असंदिग्ध है।

धर्म व्यक्ति की तरह समाज का भी विधायक है,[10] अतः एक सभ्य, सुसंस्कृत, उन्नत समाज में व्यक्ति का समाज के प्रति, परिवार के प्रति, गुरुजनों के प्रति, मित्र के प्रति, आत्मा के प्रति क्या कर्त्तव्य (धर्म) होना चाहिए-तुलसी ने इसका सम्यक् निरुपण किया है। सन्तान का धर्म है कि वह माता-पिता अथवा सास-ससुर के प्रति श्रद्धा, सेवा और सम्मान की

भावना रखे। तुलसी के नायक राम का समूचा जीवन ही इस 'धर्म' की सिद्धि हेतु प्रयासरत है। राम स्वयं तो 'पुत्र-धर्म' का निर्वाह कर ही रहे हैं, अन्य के लिये प्रेरक भी बने हैं। वन-गमन के समय सीता व लक्ष्मण को दिया गया उनको उपदेश-इसी कर्त्तव्य के अनुपालन की कथा कह रहा है।[११, १२ तथा १३] चित्रकूट में, भारत को भी राम यही शिक्षा देते हैं कि पिता का आज्ञा-पालन करना ही पुत्र का परम धर्म है।[१४] परस्पर प्रेम, त्याग, सौहार्द और समर्पण की भावना बनाये रखना ही 'भ्राता-धर्म' है। तुलसी का काव्य इस दृष्टि से अमूल्य है। राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न चारों ही इसकी जीवन्त प्रतिमूर्ति हैं। भरत का चरित्रांकन करते समय सम्भवतः इसी भावना को तुलसी ने 'भायप भगति'[१५] की अभिधा दी है।

शिष्य को गुरु के प्रति श्रद्धा, प्रेम, विनय, सेवा, संकोच के साथ एक निश्चित दूरी बनाये रखते हुए भयमिश्रित सम्मान का भाव रखना चाहिए, यही 'शिष्य-धर्म' भी है। राम-लक्ष्मण सर्वत्र इस भाव को बनाये रखे हैं।[१६,१७] यही नहीं तुलसी भी उसी भाव को बल देने हेतु प्रत्यक्ष वक्ता बन गये हैं।[१८] गुरु का भी कर्त्तव्य (धर्म) शिष्य की ज्ञान-दृष्टि में विस्तार करना तथा दृष्टि-दोष (अज्ञान) का नाश करना है।[१९,२०]

परस्पर प्रेम, समर्पण और निष्ठा-भाव ही पति-पत्नी का धर्म है। 'रामचरितमानस' में राम-सीता, शिव-पार्वती, शंकर-सती, अत्रि-अनुसुइया, रावण-मन्दोदरी इसके अन्यतम उद्धरण हैं। पति एवं पत्नी दोनों का ही परम् धर्म है कि दुःख-सुख, हानि-लाभ में एक दूसरे के सहभागी बनकर रहें। अयोध्याकाण्ड में सीता इसी धर्म की अधिवक्ता बनी हैं।[२१,२२] अरण्य काण्ड में अनुसुइया ने जो 'पातिव्रत्य धर्म'[२३] का खाका खींचा है, उससे अनुशासित समाज एक विकृति-मुक्त, उत्श्रृंखलता-रहित सुन्दर रूप को धारण कर सकता है।

किष्किन्धाकाण्ड में 'मित्र' के जो लक्षण बताये गये हैं तुलसी-निरूपित 'मित्र-धर्म' का ही पर्याय हैं।[२४]

धर्म का एक रूप उपासना-पद्धति भी है। परम् सत्ता को मानकर उसकी अर्चना करना। वैदिक धर्म के अनुसार ईश्वर एक है। वह विश्व की सर्वोच्च सत्ता है, उसे अनेक नामों से याद किया जा सकता है।[२५] उपनिषदों का भी यही मत है।[२६] वेदों का मानना है उसका कोई आकार नहीं होता अतः उसकी मूर्ति भी नहीं बनायी जा सकती है।[२७] वह सर्वव्यापी, तेजस्वी, शरीर रहित, स्नायुरहित, शुद्ध, पापमुक्त, कवि, मनीषी, स्वयम्भू, समस्त पदार्थों का निर्माता है।[२८] तुलसी ने भी ईश्वर के मूल रूप को ऐसा ही स्वीकार किया है।[२९,३०,३१] उन्होंने स्पष्ट स्वीकारा है कि राम वस्तुतः अपरिमित बल वाले अनादि, अजन्मा, अव्यक्त, एक, अगोचर, गोविन्द (अर्थात् वेद वाक्यों द्वारा जानने योग्य), इन्द्रियों से अतीत द्वन्द्व को हरने वाले, विज्ञान की घनमूर्ति तथा पृथ्वी के आधार हैं।[३२] वे तो केवल भक्तों के कारण मनुष्य चरित्र में सगुण लीला कर रहे हैं।[३३,३४] वेदों में प्रकृति, जीव, ब्रह्म तीनों शाश्वत व अनादि माने गये हैं। जीव सृष्टि-फल का स्वाद लेता है। जबकि ब्रह्म 'द्रष्टा'

मात्र है।[३५] तुलसी ने भी जीव को अजर अनादि माना है लेकिन उसके बन्धन का कारण 'माया' है।[३६] अन्यथा वह तो ईश-अंश है।[३७] मैं-मेरापन ही माया है।, जिसने समस्त जीवों को वशीभूत कर रखा है। माया का प्रभाव सर्वव्यापी है।[३८] तुलसी के अनुसार जो माया को, ईश्वर को, अपने स्वरूप को नहीं जानता, उसे जीव कहना चाहिये। जो (कर्मानुसार) बन्धन मोक्ष देने वाला सबसे परे और माया का प्रेरक है, वह ईश्वर है।[३९] जीव को माया के बन्धन से मुक्त करने के लिये तुलसी ने जिस उपासना-पद्धति पर बल दिया है, वह भक्ति है। तुलसी ने राम के श्री-मुख से कहलाया है कि 'धर्म' के आचरण से वैराग्य और योग से ज्ञान होता है तथा ज्ञान मोक्ष को देने वाला है। जिससे मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है।[४०] अनवरत संत-सेवा, भजन, इष्ट-निर्भरता, गुण-कीर्तन, पूजन इत्यादि भक्ति के अंग मानते हुए भक्त को काम, क्रोध दंभ, लोभ मोह के विमुक्त माना गया है।[४१] तुलसी ने भी भक्त द्वारा अनन्य चिन्तन से गीता की भाँति[४२] ईश प्राप्ति की बात दोहरायी है।[४३] तुलसी ने राम द्वारा शबरी को 'भागवत धर्म' समझाया है। नवधा भक्ति की चर्चा करते हुए उन्होंने क्रमशः सन्त-संगति, राम-कथा-प्रेम, गुरु-सेवा, अमानी रहना, ईश-गुण-कीर्तन, मंत्र-जप, दृढ़विश्वास, भजन, सन्त धर्म का अनुपालन करते हुए शील, दम, विरक्ति का अभ्यास, समस्त विश्व में ईश्वर रूप-दर्शन, हानि-लाभ में समदृष्टि रखते हुए सन्तोष, स्वप्न में भी पर-दोष अदर्शन, सबसे सरल और छलहीन व्यवहार, ईश्वर-निर्भरता-ये नौ भेद बताये हैं।[४४] वस्तुतः उपासक व उपासना के समस्त पहलू इसमें समाहित हो गये हैं।

निर्मल वर्मा ने अपने एक निबन्ध धर्म, 'धर्मतन्त्र और राजनीति' में राजनीति के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए माना है कि राजनीति का तन्त्र एक विशिष्ट समाज में मनुष्यों के पारस्परिक संबन्धों को निर्धारित करता है। इस प्रक्रिया में उन नियमों, विधियों और कानूनों का विधान बनता है, जो उन आदर्शों को रेखांकित करते हैं, जिनसे कोई राज्य-सत्ता अपनी वैधता प्राप्त करती है।[४५]

आज की राजनीति 'राजा' से 'जन' में हस्तान्तरित होती हुयी 'जनेच्छा' से 'दल', 'दल' से 'व्यक्ति' की निरंकुश इच्छा में सिकुड़ती चली गयी है। साम्प्रतिक दलगत, विकृत, मूल्यहीन राजनीति प्रजातंत्र का खुला मज़ाक है। यद्यपि तुलसी-काव्य में 'प्रजातंत्र' की बात न होकर 'राजतंत्र' का वर्णन है, लेकिन वह राजशाही आज की राजनीति की तुलना में कहीं अधिक उज्जवल, कहीं अधिक पारदर्शी और कहीं अधिक उच्चतर मूल्यों की वाहक रही है।

तुलसी के काव्य में कहीं भी सत्ता-मोह दृष्टिगोचर नहीं होता। राजनीति धर्म-प्रेरित है, जहाँ त्याग की भावना बलीभूत है। धर्म से यहाँ तात्पर्य किसी सम्प्रदाय विशेष से न होकर मानवीय-मूल्यों से है। वंश परम्परानुगत मिलने वाला राज्य भी राम को आकर्षित नहीं कर पता।[४६,४७,४८] भरत भी अनायास मिले राज्य का परिचालन त्याग-वृत्ति से करते हैं। यहाँ भी स्व-सुख भोग के स्थान पर कर्त्तव्य-बोध और अनासक्त भाव ही अधिक है।[४९]

जिस भाँति भरत 'राज' कर रहे हैं, आज के सत्तालोलुप, स्वार्थी, कुटिल राजनीतिज्ञों के लिये शिक्षाप्रद है।[५०] तुलसी द्वारा वर्णित व्यवस्था एक आदर्श व्यवस्था है। साम्प्रतिक विकृत राजनीतिक परिवेश में चुना हुआ नेता जोड़-तोड़ के चलते सत्ता पाता भी है या नहीं, समस्त प्रजा एक स्तर से उसका वर्चस्व मानती भी है या नहीं, बेहद विवादास्पद है। लेकिन राम के राज्याभिषेक के तो समाचार-मात्र से समस्त प्रजा हर्षोत्फुल्ल हो उठती है।[५१] एकमत से पाये राज्य को भी राम विवाद उठने पर व्यापक भलाई को देखते हुए त्यागने में एक क्षण भी नहीं लगाते। सत्ता का मोह तो उन्हें छू भी नहीं गया है।[५२]

तुलसी ने यत्र-तत्र राजा-प्रजा के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भी संकेत दिया है।[५३] अयोध्याकाण्ड में राम कहते हैं कि मुखिया मुख के समान होना चाहिये, जो खान-पान में तो अकेला है परन्तु विवेकपूर्वक सब अंगों का पालन-पोषण करता है।[५४] इसी प्रकार सत्ताधीश के मंत्रियों को निर्भीक, स्पष्टवादी व राजा को यथास्थिति का सही मूल्यांकन देने वाला होना चाहिये। भय या चाटुकारितावश दी गयी मन्त्रणा सत्ताधीश के लिये घातक हो सकती है।[५५] रामचरितमानस में तुलसी ने मन्दोदरी[५६] और प्रहस्त[५७] द्वारा लंकेश के लिये जो कहलवाया है वह राजनीति के क्षेत्र में दूरदर्शिता, नीति और विवेक का उद्धरण है। प्रहस्त और विभीषण ने सदैव 'नीति' को सामने रख कर बात की है।[५८,५९] तुलसी का स्पष्ट मानना है- 'राजु कि रहइ नीति बिनु जानें',[६०] अर्थात् नीति जाने बिना क्या राज्य रह सकता है ? वस्तुत: वही राजा धन्य है जो न्याय कर सकता है।[६१]

साम, दान, दण्ड और भेद-राजनीति के ये चार प्रमुख अंग हैं। तुलसी काव्य में न्यूनाधिक सबके दर्शन होते हैं। कुशल राजनीतिज्ञ राम समयानुसार दण्डित करते हुए तो दृष्टिगोचर होते ही हैं,[६२] उचित अवसर पर भेद-नीति का प्रयोग करने से भी नहीं चूकते। वे तो इतने चौकस हैं कि विभीषण से अपनी सेना के समक्ष भी मुखर रूप से मन्त्रणा प्राप्त नहीं करते। इसके लिए भी नितान्त गुप्त मन्त्रणा करते हैं।[६३] अंगद की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि 'साम दान अरू दण्ड विभेदा, नृप-उर बसहिं नाथ कह बेदा।'[६४] राजनीति में शत्रु-पक्ष के सबल होने की समस्त संभावनाओं को भेद-नीति द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है। राम ने भी सर्वत्र इसका सहारा लिया है। चाहे मेघनाथ के बल को क्षीण करने की बात हो,[६५] चाहे रावण-यज्ञ विध्वंसकी,[६६] अथवा रावण-मृत्यु-भेद की,[६७] विभीषण द्वारा सूचना पाकर ही पूरी की जा सकी है।

तुलसी की राजनीति धर्ममय है। यहाँ धर्म का तात्पर्य किसी सम्प्रदाय-विशेष का संरक्षक होना नहीं अपितु मानवीय और उदार नीति से सम्पृक्त होना है। विभीषण के शंकाकुल होने पर राम ने जिस 'धर्म-रथ' की चर्चा की है, स्पृहणीय है। राम ने कहा कि 'विजय-रथ' के शौर्य और धैर्य दो पहिये हैं। सत्य और शील (सदाचार) उसकी दृढ़ ध्वजा बल, विवेक, दम (इन्द्रियों का वश में होना) और परोपकार ये चार घोड़े हैं, जो क्षमा, दया,

समता रूपी डोरी से रथ में जुड़े हुए हैं। ईश-भजन ही रथ चलाने वाला सारथि है। वैराग्य ढाल है, संतोष तलवार है, दान परशु है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है, श्रेष्ठ ज्ञान कठिन धनुष है, निर्मल और स्थिर मन तरकश है। शम (मन का वश में होना), अहिंसादि यम और शौचादि नियम से बहुत से बाण हैं। ब्राह्मण और गुरु का पूजन अभेद्य कवच है। इसके समान विजय का दूसरा कोई उपाय नहीं है। जिसके पास ऐसा दृढ़ रथ हो, वह वीर तो संसार (जन्म-मृत्यु) रूपी महान् दुर्जेय शत्रु को भी जीत सकता है। रावण की तो बात ही क्या है ? वस्तुतः जिस शासक में ये गुण होंगे, प्रथमतः तो वह सबका प्यारा होगा, उसका कोई शत्रु ही नहीं होगा। यदि दुर्भाग्य से शत्रु हो भी तो उक्त व्यक्ति में इन गुणों से इतना दृढ़ आत्म विश्वास और साहस उत्पन्न होगा कि वह सफलता ही प्राप्त करेगा।

तुलसी के नायक के शासनारुढ़ होते ही सर्वत्र आनन्द और मंगल का साम्राज्य प्रसरित होता है।[६९] वस्तुतः शासक की सुव्यवस्था द्वारा ही सभी सुखी, साधन-सम्पन्न, निर्भय और शोक रहित हो गये हैं।[७०] चतुर्दिक् अगाध सन्तोष परिव्याप्त है, इसलिये परस्पर बैर-भाव भी नहीं-

'दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज,
जीतहु मनहि सुनिअ अस राम चन्द्र के राज।[७१]

यही तुलसी-निरूपित आदर्श व्यवस्था है और आज के परिप्रेक्ष्य में भी यही काम्य है।

पाद टिप्पणी

१. हिन्दू धर्मकोश, डॉ० राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान समिति प्रयाग, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन, हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, पृ० ३३६

२. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।

मनुस्मृति, २.

३. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विध प्राहुः सद्धर्मस्य लक्षणम्।

-मनुस्मृति, २,१२.

४. धरमु न दूसर सत्य समाना, आगम निगम पुरान बखाना।

-श्री राम चरित मानस अयोध्याकाण्ड (मोटा टाईप, भाषानुवादसहित) गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण सं. २०१६, पृ० ३८०

५. परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीडा सम नहिं अधमाई।
-वही उत्तरकाण्ड, पृ० ८७५

६. धर्म कि दया सरिस हरि जाना'

-वही, पृ० ६४१

७. 'परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा',

-वही, पृ० ६५५

८. 'प्रगट चारि पद धर्म के'

-वही, पृ० ६२६

(धर्म के चार चरण सत्य, दया, दान, तप-प्रतिष्ठित हैं)

६. 'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई, बिनु महि गंध कि पावई कोई।'
-वही पृ० ६१६

१०. हिन्दू धर्म कोश, पृ० ३३६

११. 'ऐहिते अधिक धरम नहिं दूजा, सादर सास-ससुर पद पूजा'

-अयोध्याकाण्ड, पृ० ३५४

१२. 'मातु-पिता', गुरु स्वामि सिख, सिर धरि करहिं सुभायँ,
लहेउ लाभु तिन्ह जानकर, नतरु जनमु जग जायँ।

-अयोध्याकाण्ड, दोहा सं०-७०, पृ० सं० ३६१

१३. 'अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई, करहु मातु पितु पद सेवकाई'

-वही, पृ० ३६१

१४. मोर तुम्हार परम पुरुषारथु, स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु
पितु आयसु पालिहिं दुहु भाई, लोक वेद भल भूप भलाई

-अयोध्याकाण्ड, पृ० ५५१

१५. वही, अयोध्याकाण्ड पृ० ४७८

१६. 'सभय सप्रेम विनीत अति संकुच सहित दोउ भाई।
गुरु-पद पंकज नाई सिर बैठे आयसु पाई'

-वही, बालकाण्ड, दोहा सं. २२५, पृ० १६२

१७. बार-बार मुनि अग्या दीन्हीं, रघुवर जाइ सयन तब कीन्हीं

-वही पृष्ठ० १६३

१८. 'बन्दऊँ गुरु-पद पदुम परागा', वही पृ० ३.

१६. 'श्री गुरु पद-नख मनि गन जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।'

-वही, पृ० ३

२०. गुरु पद-रज मृदु मंजुल अंजन, नयन अमिअ दृग दोष विभंजन',

-वही, पृ० ४

२१. 'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं, मो कहुँ-सुखद कतहुँ कछु नाहीं,

-वही, पृ० ३५७

२२. 'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुम्हहिं उचित तप मो कहुँ भोगू ?

-वही पृ० ३५६

२३. "जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं, वेद पुरान संत सब कहहीं।
उत्तम के अस बस मन माहीं, सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम परपति देखई कैसें, भ्राता, पिता, पुत्र निज जैसे।
धर्म विचारि समुझि कुल रहई, सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई।
बिनु अवसर भय तें रह जोई, जानेहु अधम नारि जग सोई।
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई।"

-वही, पृ० ५६६

२४. जे न मित्र दुःख होहिं दुःखारी, तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी।
निजः दुःख गिरि सम रज करिजाना, मित्रक दुःख रज मेरु समाना।
जिन्हकें असि मति सहज न आई, ते सठ कत हठि करत मिताई।
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा, गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरा।
देत लेत मन संक न धरई, बल अनुमान सदा हित करई।
विपति काल कर सतगुन नेहा, श्रुति कह संत मित्र गुन एहा।

-किष्किन्धाकाण्ड, पृ० ६२७

२५. "इद्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णे गुरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्तयग्निं यमं मातरिश्वानर्माहुः।

-ऋग्वेद, १-१६४-४६

२६. "स ब्रह्म स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सो क्षरस्स परमः स्वराद
स इन्द्रस्स स कालाग्निस्स चन्द्रमा।"

-कैवल्य उपनिषद् ८

२७. 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'
-यजुर्वेद, अं. ३२, मं. ३

२८. "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभू, स्वयम्भूर्याथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।"

-यजुर्वेद अं. ४, मं. ८

२९. "अमलमखिलमनवद्यमपारम्"- राम चरित मानस, अरण्य काण्ड, पृ० ५७७

३०. "जदपि बिरज व्यापक अविनासी"-वही, पृ० ५७७

३१. "जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।"

-वही, पृ० ६०४

३२. "बलमप्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं,
गोबिन्द गोपर द्वन्द्वहर विग्यानघन धरनीधरं।"

-वही, अरण्यकाण्ड, पृ० ६०४

३३. "पूरन काम राम सुख रासी, मनुज चरित कर अज अविनासी'

-वही पृ० ६०३.

३४. 'ब्रह्म अनामय, अज भगवंता, ब्यापक अजित अनादि अनंता।
गो, द्विज, धेनु, देव हितकारी, कृपा सिंधु मानुष तनुधारी।

-वही, सुन्दरकाण्ड, पृ० ६८६-६८७

३५. "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्यो अभिचाकशीति।"

-ऋग्वेद मण्डल-१, सूक्त १६४, मं. २०

३६. जो सबके रह ग्यान एक रस, ईश्वर जी वहिं भेद कहहु कस।
माया बस्य जीव अभिमानी, ईस बस्य माया गुनखानी।
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।

-रामचरितामनस, उत्तराकाण्ड, पृ० ६०६

३७. ईस्वर अंस जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो मायाबस भयउ गोसाईं, बंधे कीर मरकट की नाई। -वही पृ० ६४७

३८- "मैं अरु मोर तोर तैं साया, जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।
गो गोचर जहँ लागि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई।"

-वही, अरण्यकाण्ड पृ० ५८२

३६. माया, ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव।

-वही, अरण्यकाण्ड, दोहा सं. १५, पृ० ५८२

४०. "धर्म ते विरति जोग तें ग्याना, ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।
जातें बेगि द्रवऊँ मैं भाई, सो मम भगति भगत सुखदाई"

-रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ० ५८२

४१. "संत चरन पंकज अति प्रेमा, मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा।
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा, सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा।
मम गुन गावत पुलक सरीरा, गदगद गिरा नयन बह नीरा।
काम आदि मद दंभ न जाके, तात निरन्तर बस मैं ताकें।

-रा.च.मा., अ.का., पृ० ५८३

४२. "अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ नित्यमुक्तस्य योगिनः।
-श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ८, श्लोक सं. १४,
सं. २०११ (एकादश संस्करण) पृ. सं. २०६

४३. "वचन कर्म मन मोरि गति, भजनु करहिं निःकाम
तिनह के हृदय कमल चहुँ करऊँ सदा विश्राम।

-रा.म.मा., अरण्यकाण्ड, दोहा सं. १६, पृ० ५८३

४४. प्रथम भगति संतन्ह कर संगा, दूसरि रति मम कथा-प्रसंग।
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करई कपट तजि गान।
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा, पंचम भजन सो बेद प्रकासा।
छठ दम सील विरति बहु करमा, निरत निरंतर सज्जन धरमा।
सातँव सम मोहि मय जग देखा, मो तें संत अधिक कर लेखा।
आठवँ जथा लाभ सन्तोषा, सपनेहुँ नहि देखई परदोषा।
नवम सरल सब सन छलहीना, मम भरोस हियँ हरष न दीना।
नव महुँ एकउ जिन्ह के होई, नारि पुरुष सचराचर कोई।

-रा.च.मा., अरण्य काण्ड, पृ० ६०७-६०८

४५. 'शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ० १६६

४६. "प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास दुःखतः।"

-रा.च.मा., अयोध्याकाण्ड, श्लोक सं. २, पृ० ३०७

४७. "भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू, विधि सब विधि मोहि सन्मुख आजू।"

-वही पृ० ३३६

४८. "नाहिन रामु राज के भूखे, धरम धुरीन विषय रस रुखे।"

-वही पृष्ठ ३४५.

४६. "सुनि सिख पाई असीस बड़ि गनक बोलि दिन साधि।
सिंहासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि"

-रा.च.मा., अयोध्याकाण्ड, दो. सं. ३२३, पृ० ५५८

५०. भूषन बसन भोग सुख भूरी, मन तन बचन तजे तिन तूरी।
अवधु राजु सुर राजु सिहाई, दशरथ धनु सुनि धनदु लजाई।
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा,- चंचरीक जिमि चंपक बागा
-रा.च.मा. अयोध्याकाण्ड, पृ० ५५८

५१. राम राज अभिषेक सुनि, हियँ हरषे नर नारि।
लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि।
-रा.च.मा., अयोध्याकाण्ड, दोहा सं. ८, पृ० ३१३

५२. लोभु न रामहि राजु कर।

वही, अयोध्याकाण्ड, दोहा सं. ३१

५३. "सेवक करपद नयन से, मुख सो साहिब होई।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि, सुकवि सरारहिं सोई।"
-रा.च.मा., अयोध्या काण्ड, पृ० ५४५

५४. "मुखिया मुख सो चाहिए, खानपान कहुँ एक।
पालई पोषई सकल अँग, तुलसी सहित विवेक।"

-रा.च.मा. अयोध्याकाण्ड, दोहा सं. ३१५, पृ० ५५१

५५. "सचिव बैद गुरु तीन जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीन कर होइ बेगहिं नास।"

-रा.च.मा., सुन्दर काण्ड, पृ० ६८६

५६ "नाथ बयरु कीजे ताही सों, बुधि बल सकिअ जीति जाही सों।"
-रा.च.मा., लंका काण्ड, पृ० ६१३

५७. "कहहिं सचिव सब ठकुर सोहाती, नाथ न पूर आव एहि भाँति"
तथा
"सुनत नीक आगें दुःख पावा, सचिवन अस मत प्रभुहिं सुनावा"
तथा
"वचन परम हित सुनत कठोर, सुनहिं जो कहहिं ते नर प्रभु थोरेः।"
-रा.च.मा., लंकाकाण्ड, पृ० ७१५

५८. "नीति विरोध न करिअ प्रभु, मन्त्रिन्ह मति अति थोरि"
-रा.च.मा., लंकाकाण्ड, दोहा सं. ८, पृ० ७१५

५९. "नीति विरोध न मारिअ दूता"
-सुन्दरकाण्ड, पृ० ६७४

६०. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, पृ० ६४१

६१. "धन सो भूपु नीति जो करई"
-रा.च.मा., उत्तरकाण्ड, पृ० ६६३

६२. "भय बिनु होइना प्रीति"
रा.च.मा., सुन्दर काण्ड, पृ० ७०३
तथा
विनय न मान खगेस सुनु, डाँटेहिं पइ नव नीच।
वही, दोहा सं. ५८, पृ० ७०३

६३. "कह लंकेस मंत्र लगि काना"

रा.च.मा., लंका काण्ड, पृ० ७१७

६४. वही, लंकाकाण्ड, पृ० ७४३

६५. लंकाकाण्ड पृ० ७७५

६६. वही, पृ० ७८६

६७. "नाभिकुण्ड पीयूष बस याकें, नाथ जिअ रावनु बल ताके"
-रा.च.मा., लंकाकाण्ड, पृ० ८०७

६८. 'सुनहु सखा कह कृपानिधाना, जेहिं जय होई सो स्यन्दन आना।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका, सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल विबेक दम परहित घोरे, छमा कृपा समता रजु जोरे।
ईस भजनु सारथी सुजाना, बिरति चर्म संतोष कृपाना।

दान परसु बुध सक्ति प्रचंडा, बर बिग्यान कठिन कोदण्डा।
अमल अचल मन त्रोन समाना, सम जम नियम सिली मुख नाना।
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा, एहि सम विजय उपाय न दूजा।
सखा धर्ममय अस रथ जाके, जीत न कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।
महा अजय संसार रिपु, जीति सकई सो वीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर।
-वही लंकाकाण्ड, पृ० ७८१

६६. राम राज बैठे त्रैलोका, हरषित भए गए सब सोका।
बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग"
-रा.च.मा., उत्तरकाण्ड, दोहा सं. २०, पृ० ८५७

७०. दैहिक, दैविक, भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।
-वही, पृ० ८५७

७१. -उत्तरकाण्ड, पृ० ८५६

वेदकालीन मन्त्रिमण्डल

डॉ0 बलवीर आचार्य
रीडर संस्कृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक हरयाणा

वैदिक साहित्य में राज्य संस्था के पूर्ण विकास की सूचना उपलब्ध है। राजनीति के आचार्यों ने राजा के सात अङ्ग स्वीकार किये हैं:- १.राजा, २.अमात्य, ३.कोश, ४. दण्ड (सेना), ५. जनपद, ६. पुर (दुर्ग) और ७.प्रजा।[१]

इन सात अङ्गों में अमात्य (मन्त्रि या मन्त्रिमण्डल) का स्थान दूसरा है। ऋग्वैदिक काल में राजनीतिक संस्थाओं के रूप में सभा और समिति का विकास हो चुका था। इन संस्थाओं के माध्यम से राज्य सञ्चालन के लिए जनप्रतिनिधि राजा के साथ मिलकर विचार विमर्श करते थे। ये जनप्रतिनिधि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य होते थे। अथर्ववेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्हें "रत्निन्" कहा गया है। इन्हीं को 'राजानः' और 'राजकृतः' भी कहा जाता था। ये राजशक्ति के रूप में राजा को एक मणि (पर्णमणि) प्रदान करते थे।[२] अथर्ववेद के अनुसार इनकी संख्या पाँच थी[३]- सूत, रथकार, कर्मार, ग्रामणी और राजानः। राजानः का तात्पर्य भावी राजा के, जिसके अभिषेक का प्रस्ताव है, कुटुम्बीगण तथा अन्य राजगण से था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह संख्या बढ़कर बारह हो गयी। यह इस प्रकार है- ब्राह्मण (पुरोहित) राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृत्ति, सूत, सेनानी, ग्रामणी, क्षत्रिय, संगृहीता, भागदुक और अक्षवाप।[४] राजन्य के विषय में कुछ विद्वानों का यह मानना है कि राजन्य वह व्यक्ति है जिसका अभिषेक होने जा रहा है। इस मत के अनुसार उक्त सूची से राजन्य को पृथक् कर केवल ग्यारह राजकर्त्ता माने जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस सूची में दो राजकर्त्ता और बढ़ाये गये हैं। वे हैं गोविकर्त्तन और पालागल।[५] मैत्रायणि संहिता में दो राजकर्त्ताओं की और वृद्धि की गई है जो तक्षण और रथकार हैं।[६] पंचविश ब्राह्मण में यह संख्या कम कर दी गई है। इस के अनुसार जिस क्षत्रिय का राज्याभिषेक हो रहा है, उसका भ्राता, पुत्र, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामीण, क्षत्रिय और संगृहीता है।[७]

मन्त्रिमण्डल के सदस्य :

शतपथ ब्राह्मण में इन राजकर्त्ताओं को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया है। एक वर्ग को राजवंशीय राजकर्त्ता और दूसरे को अराजवंशीय राजकर्त्ता नाम से सम्बोधित किया गया है।[८] प्रथम श्रेणी राजकर्त्ता राजन्य, महिषी, वावाता, परिवृत्ती,

भावी-राजा का भ्राता, भावी राजा का पुत्र और क्षत्रिय हैं। इन राजवंशीय राजकर्त्ताओं को अनुकूल बनाये रखना बहुत आवश्यक था। क्योंकि ये लोग राजघराने के होते थे। इसलिए कभी भी राजा के विरोध में षड्यन्त्र रच सकते थे। इनके षड्यन्त्र रचने से राज्याभिषेक में विघ्न पड़ने की पूरी-२ संभावना बनी रहती थी, इसलिए प्रयत्न पूर्वक राजा इन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करता था। उत्तर वैदिक काल में राज्याभिषेक के समय किये जाने वाले "रत्नहवींषि" संस्कार से मन्त्रिमण्डल और राजकर्त्ताओं के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त होती है। यह संस्कार "राजसूय यज्ञ" का अभिन्न अंग था। इस संस्कार पर वेबर, जायसवाल और घोषाल प्रभृति विद्वानों ने विस्तृत प्रकाश डाला है।

रत्नहवींषि संस्कार के अनुसार राजा प्रत्येक रत्निन् के घर जाता और वहाँ समुचित देवता को बलि अर्पित करता था। पाँच ग्रन्थों में इन रत्नियों के नाम आये हैं, इनके आधार पर निम्नलिखित एक सारिणी तैयार की है।

रत्नहवींषि में रत्नियों की सूची

क्रम	तैत्तिरीय संहिता 1.8.9	मैत्रायणी संहिता 11.6.5 IV.3	काठक संहिता XV.4	तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.7.3. और आगे	शतपथ ब्राह्मण 5.2.5.1
1.	ब्रह्मन्	ब्रह्मन्	बृहस्पति के लिए पुरोहित	ब्रह्मन्	सेनानी
2.	राजन्य	राजन्य	इन्द्र के लिए राजा	राजन्य	पुरोहित
3.	महिषी	महिषी	अदिति के लिए महिषी	महिषी	याजक
4.	परिवृत्ती	परिवृत्ती	नैऋत के लिए परिवृत्ती	वावाता	महिषी
5.	सेनानी	सेनानी	अग्नि के लिए सेनानी	परिवृत्ति	सूत
6.	सूत	संगृहीतृ	अश्विनों के लिए संगृहीतृ	सेनानी	ग्रामणी
7.	ग्रामणी	क्षतृ	सवितर के लिए क्षतृ	सूत	क्षतृ
8.	क्षतृ	सूत	वरुण के लिए सूत	ग्रामणी	संगृहीतृ
9.	संगृहीतृ	वैश्यग्रामणी	मरुत् के लिए वैश्यग्रामणी	क्षतृ	भागदुक्
10.	भागदुक्	भागदुक्	पूषन् के लिए भागदुक्	संग्रहीतृ	अक्षावाप
11.	अक्षावाप्	तक्षन्	अक्षावाप	भागदुक्	गोविकर्त्तन
12.		रथकार	रुद्र के लिए गोव्यच्छ	अक्षावाप	पालागल
13.		अक्षावाप			परिवृत्ती
14.		गोवित्कर्त्त			

रत्नहवींषि संस्कार में राजा जिन लोगों के द्वार पर जाता था, उनका राजनीतिक महत्त्व अनेक अवतरणों में भली-भाँति प्रकट होता है। वहाँ बलपूर्वक यह कहा गया है कि राजा इन रत्नियों को अपने राज्य का आधारस्तम्भ मानता है। रत्नियों को राज्य देने और लेने वाले "राष्ट्रस्य प्रदातारः एते परदातारः" कहा गया है।[८] इन्हें राजशक्ति का अंग "क्षत्रस्य वा एतान्यगांनि[९] कहा गया है। यह वर्णन मनु और अन्य विचारकों द्वारा वर्णित राज्य के सात अंगों का स्मरण कराता है। वहाँ यह भी कहा गया है कि यदि रत्निन् ओजस्वी और तेजस्वी हो तो वह राष्ट्र भी ओजस्वी और तेजस्वी होगा।[१०] मैत्रायणी संहिता में रत्नियों को राजशक्ति का अनिवार्य अंग कहा गया है, जिनकी तेजस्विता से सम्पूर्ण राष्ट्र तेजस्वी होता है।[११] तैत्तिरीय ब्राह्मण में रत्नियों को राष्ट्र को प्रदान करने वाला और धारण करने वाला कहा गया है।[१२] राजसूय के अवसर पर राजा प्रत्येक रत्नी से कहता है कि वह निश्चित रूप से राजा का एक रत्न है तथा उसी के लिए राजा का अभिषेक होता है।[१३] राजसूय के इस कृत्य का लक्ष्य राजा के लिए जनता के इन महत्त्पूर्ण व्यक्तियों की स्वामिभक्ति प्राप्त करना होता था।

अधिकांश रत्नियों के घर राजा जिस मन्त्र का उच्चारण करता है उसमें वह कहता है कि मैं रत्नियों के लिए ही अभिषिक्त हुआ हूँ और मैं इन्हें अपना निष्ठावान् अनुगामी बनाता हूँ।[१४] अन्य अनेक स्रोतों से भी यह पुष्ट हो जाता है कि पुरोहित, राजन्य, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षतृ और संग्रहीतृ आदि विशिष्ट व्यक्ति थे। इन्हें ऐसा व्यक्ति कहा गया है जो राजा का अभिषेक करते हैं और साथ मिलकर राजपद को शक्ति प्रदान करते हैं।[१५] इस संस्कार में जिन अधिकारियों को रत्निन् कहा गया है वे राजसूय यज्ञ के ही एक अन्य संस्कार यज्ञ खड्ग के हस्तान्तरण में भी, जो द्यूत क्रीड़ा का एक अंग था, महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माने गए हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय शाखा के अनुसार यह यज्ञखड्ग सूत और ग्रामणी को भी हस्तान्तरित किया जाता है, ताकि वे राजा के अधीनस्थ बने रहें।[१६] इसी सन्दर्भ में कृष्णयजुर्वेदीय शाखा के अवतरण में यह खड्ग पुरोहित को दिया जाता है, जो इसे रत्नियों को हस्तान्तरित कर देता है। अंत में यह अक्षावाप के हाथ में जाता है जो इससे क्रीड़ाक्षेत्र तैयार करता है।[१७] राजा तथा उसके कर्मचारियों और आश्रितों के पारस्परिक संबन्धों को रत्नहवींषि संस्कार द्वारा पुनीत बनाया जाता था और इन्हें धर्म संस्कारों का रूप प्रदान किया जाता था। जिन रत्नियों के पास राजा इस अनुष्ठान के क्रम में जाता था वे निश्चय ही उसके घरेलू परिचर और प्रशासन तंत्र के अंग थे। ब्राह्मण कालीन राज्य व्यवस्था में इन दोनों वर्गों के कर्मचारियों के मध्य कोई स्पष्ट रेखा खींचपाना कठिन है। इन रत्नियों की सांविधानिक स्थिति क्या थी, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। बहुत से विद्वान् इन रत्नियों को उच्चाधिकारी मानते हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ये रत्निन् एक राजपरिषद् के अंग थे। यह तो हो सकता है कि

विभिन्न राज्यों में उनकी संख्या में कुछ अन्तर रहा हो, क्योंकि राजसूय यज्ञ, भरतों, कुरुओं और पंचालों, तीनों के राज्यों में होता था। शतपथ ब्राह्मण से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि यह यज्ञ विदेह में भी प्रचलित रहा होगा, जिसमें रत्नियों की संख्या बारह रही होगी।

इन रत्नियों अथवा राज्याधिकारियों का स्वरूप निम्न प्रकार रहा होगा।

१. ब्राह्मण अथवा पुरोहितः

राजा के धार्मिक कृत्य करने वाला ब्राह्मण पुरोहित कहलाता था।[१८] वह राजगुरु होता था और समय-समय पर आवश्यकतानुसार परामर्श एवं मंत्रणा देता था, पुरोहित राजा के साथ युद्ध के समय में भी रहता था। वह राजा की विजय के लिए प्रार्थना करता था। राजा का सबसे बड़ा हितचिन्तक अथवा निकटस्थ पुरोहित माना जाता था। पुरोहित शब्द का निर्वचन निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार किया है- "पुर एनं दधति"[१९] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सर्वप्रथम मन्त्र में अग्नि को पुरोहित कहकर पुकारा गया है.।[२०] महर्षि दयानन्द ने अग्नि का अर्थ परमात्मा भी किया है। इस मन्त्र में परमात्मा को पुरोहित कहकर पुकारा गया है।

शतपथ ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में रत्नियों में पुरोहित का स्थान सर्वप्रथम माना गया है। इससे शासन तन्त्र में उसकी प्रमुखता का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। पुरोहित जहाँ राजा का परामर्श दाता होता था, वहाँ यज्ञों और अनुष्ठानों के द्वारा राजा को दैवी कृपा का पात्र भी बनाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में उसे राष्ट्र गोप कहा गया है।[२१] इससे उसके राजनैतिक महत्त्व का बोध होता है। इस रत्नी-सूची में ब्राह्मण अथवा पुरोहित को ब्राह्मण वर्ग का प्रतिनिधि मानना केवल पूर्वाग्रह ही कहा जायेगा। वस्तुत: राजनैतिक क्षेत्र में पुरोहित का महत्त्व प्रशासन कार्य में धार्मिक एवं बौद्धिक सहयोग के कारण ही था न कि किसी सामाजिक वर्ग का प्रतिनिधि होने के कारण।

रत्नी-सूची के पुरोहित के सम्बन्धों में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शतपथ ब्राह्मण में पुरोहित का स्थान सेनानी के पश्चात् है[२२] तथा पंचविश् ब्राह्मण के वीरों की सूची में उसका नाम राजभ्राता और राजपुत्र के अनन्तर है।[२३] इससे यह भी संकेत मिलता है कि उस काल में धीरे-धीरे पुरोहितों का महत्त्व भी घटता जा रहा था।

ऐतरेय ब्राह्मण में पुरोहित के विषय में विस्तृत चर्चा की गई है वहाँ कहा गया है कि देवता पुरोहित विहीन राजा के अन्न को स्वीकार नहीं करते, इसलिए यज्ञ की इच्छा वाले राजा को एक पुरोहित रखना चाहिए कि "देवता मेरे अन्न को ग्रहण कर लें।" राजा पुरोहित का संपादन करता है वह स्वर्ग को ले जाने वाली अग्नियों को

स्थापित करता है। पुरोहित ही राजा का आहवनीय अग्नि है, स्त्री गार्हपत्य है पुत्र दक्षिणाग्नि है। राजा पुरोहित के लिए जो कुछ करता है वह आहवनीय अग्नि में होम करने के समान है। पुरोहित के द्वारा वे अग्नियाँ अपने उग्ररूप को छोड़कर अभीष्ट होम से प्रसन्न होकर इस राजा को स्वर्ग पहुँचाती हैं। पुरोहित की प्रसन्नता से मन के उत्साह रूप शौर्य को, शारीरिक बल को, राष्ट्र को और प्रजा को प्राप्त कराने वाली होती है। अभीष्ट होम के अभाव में यदि ये उग्र रूप धारण कर लें तो अप्रसन्न होकर वे ही इस राजा को स्वर्ग लोक से गिरा देती हैं, उसे शौर्य से, शारीरिक बल से, राष्ट्र से और प्रजा से च्युत कर देती हैं।

आलंकारिक रूप से इस विषय का विस्तार करते हुए ब्राह्मण कार कहते हैं- यह पुरोहित उपद्रव कारिणी क्रुद्ध पाँच शक्तियों वाला वैश्वानर अग्नि है। उसकी वाणी में एक शक्ति होती है, दोनों पैरों में एक, त्वचा में एक, हृदय में एक और उपस्थ में एक शक्ति होती है। उन जलती हुई पाँच शक्तियों के साथ पुरोहित राजा के पास आता है। जब राजा कहता है- हे भगवन्। अबतक आप कहाँ रहे? और सेवकों से कहता है-हे परिचारकों ! तृण निर्मित आसन पुरोहित के लिए लाओ। राजा के इन प्रिय वचनों से पुरोहित की वाणी में जो बाधिका शक्ति होती है, उसका शमन हो जाता है। इसके बाद जब पुरोहित के चरण प्रक्षालन के लिए जल आता है तो जो उसके पैर की क्रुद्ध शक्ति होती है, उसे वह शान्त करता है। इसके बाद जब उसे वस्त्रादि से अलंकृत किया जाता है। तब उसकी त्वचा में जो क्रुद्ध शक्ति होती है उसका शमन हो जाता है। तत्पश्चात् जब धन आदि के द्वारा उसे तृप्त करते हैं तो उसके हृदय में जो क्रुद्ध शक्ति होती है वह शान्त हो जाती है। जब वह पुरोहित राज प्रसाद में बिना किसी बाधा के उन्मुक्त रूप से विचरण करता है तो उसके उपस्थ की अग्नि शान्त होती है।

इस प्रकार होम के द्वारा प्रसन्न एवं शान्त शरीर वाला वह पुरोहित राजा को स्वर्गलोक पहुँचाता है और उसे शौर्य, शारीरिक बल, राष्ट्र एवं प्रजा से समृद्ध करता है। वही पुरोहित यज्ञ के अभाव में अशान्त शरीर एवं अप्रसन्न होकर राजा को स्वर्ग लोक से वञ्चित कर देता है और उसे शौर्य, बल, राष्ट्र एवं प्रजा से भी च्युत कर देता है।[२४]

पुरोहित वरण :

पुरोहित का वरण करते समय राजा निम्न मन्त्र का उच्चारण करता है-

"भूर्भुवः स्वरोममोऽहमस्मि, स त्वं; स त्वमस्योऽहं, द्यौरहं पृथिवी त्वं, सामाहमृक्त्वं, तावेव संवहावहै।"

पुरोहित का वरण कर लेने मर राजा द्वारा प्रदान किये गये आसन का पुरोहित

अभिमन्त्रण करता है। तत्पश्चात् अभिमन्त्रित आसन पर वह बैठता है। उसके बाद राजा पाद प्रक्षालन के लिए जल देता है। पुरोहित उस जल को देखता हुआ, मन्त्र पाठ करता है-

"अस्मिन् राष्ट्रे श्रियमावेशयाम्यतो देवी: प्रतिपश्याम्याप: ।[२५]

अर्थात हे जल ! मैं पुरोहित इस राष्ट्र में धन-सम्पदा का सम्पादन करता हूँ। अत: मैं द्योतनात्मक तुम दिव्य जलों की ओर देखता हूँ।

पाद प्रक्षालन के पश्चात् अवशिष्ट जल का अभिमन्त्रण करते हुए कहता है- "पैरों को धोने से बचा हुआ यह जल मेरे शत्रु को भस्म करे।"

इस प्रकार पुरोहित की वरण विधि में भी राष्ट्र की रक्षा का दिव्यभाव विद्यमान है।

पुरोहित की योग्यता

राजा का पुरोहित कैसा होना चाहिए इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि जो ब्राह्मण तीन पुरोहितों और उसके तीन पुरोधाताओं का पूर्ण ज्ञाता हो, वह राजा का पुरोहित होना चाहिए। ये तीन पुरोहित अग्नि, वायु और आदित्य और उनके क्रमश: तीन पुरोधाता पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ हैं। राजा के लिए पुरोहित की आवश्यकता व्यक्त करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि जिस राजा का ऐसा ब्राह्मण राष्ट्र का रक्षक पुरोहित होता है, दूसरे राजागण उस राजा के मित्र बन जाते हैं और वह अपने शत्रुओं को जीत लेता है। वह क्षत्र से क्षत्र को और बल से बल को जीत लेता है। जिस राजा का ऐसा राष्ट्ररक्षक ब्राह्मण पुरोहित होता है उसकी प्रजा: (विश:) उसको निरन्तर एवं एकमत होकर नमन करती हैं।[२६]

पुरोहित का पद वैदिक काल से ही बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। यह राजा का गुरु होता था और राजा को सन्मार्ग पर चलाने का प्रयास करता था। राजा के कार्यों के औचित्य और अनौचित्य का वह निर्णायक था। शासन की नीति के संचालन में भी उसका बहुत महत्त्व था। पुरोहित को यह अनिवार्य था कि वह राजनीति और धर्म दोनों प्रकार के शास्त्रों में निपुण होना चाहिए। राजा की अनुपस्थिति में वह शासन का संचालन भी कर सकता था।

पुरोहित का उपयोग अन्यत्र भी किया जा सकता था। प्राचीन ग्रन्थों और काव्यों में वर्णन है कि राजा लोग अपने विशेष महत्त्वपूर्ण सन्देशों को दूसरे राज्य में पुरोहित द्वारा भी भेजा करते थे।

पुरोहित के घर जाकर राजा जो याग करके हवि प्रदान करता था उसका देवता इन्द्र, हवि-कपाल पुरोडाश तथा दक्षिणा ऋषभ होती थी।

विधि का रक्षक :

पुरोहित पर गुरुतर कार्य विधि की रक्षा का होता था। न्याय का निर्णय राजा स्वयं नहीं कर सकता था। उसको पुरोहित से विधि की व्याख्या कराकर निर्णय देना होता था। वैदिक काल में विधि के लिए पारिभाषिक शब्द धर्म था।[२७] इस शब्द की उचित जानकारी के अभाव में आधुनिक विचारक पुरोहित को मात्र धर्म का अधिष्ठाता मानते हैं, जबकि उसकी स्थिति प्रमुख न्यायधीश के रूप में परामर्श दाता की थी। विधि (धर्म) के नियमों को 'व्रत' कहा जाता था। विधि की रक्षा का भार मुख्य रूप से राजा और पुरोहित दोनों का होता था। इसी कारण इन दोनों को शतपथ ब्राह्मण में 'धृतव्रतौ' (अर्थात् संविधान के नियमों का रक्षक) कहा गया है।

सेनानी :

राज्यशक्ति को सुदृढ़ करने तथा उसे बाह्य एवं आन्तरिक भयों से सुरक्षित रखने के लिए सेना की अपरिहार्यता मानी गई है। राज्य के विरूद्ध बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक उपद्रवों से राजा और प्रजा की रक्षा करने के लिए सेना का संगठन किया जाता है। राज्य के सात अंगों में सेना का बहुत महत्त्व है। अत: व्यवस्थित प्रकार की सेनाओं को संगठित करने के विस्तृत निर्देश वैदिक संहिताओं और प्राचीन शास्त्रों में दिये गये हैं। विविध प्रकार के आयुधों से सुसज्जित, सुसंगठित, मनुष्य आदि के समूह को सेना कहते हैं।[२८] राज्य के सात अंगों में सेना का वही स्थान है, जो शरीर में मन का है।[२९] राज्यरूपी वृक्ष के ये पुष्प पल्लव हैं।[३०] इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार मन के द्वारा आत्मा इन्द्रियों का संचालन करता है, उसी प्रकार राजा सेना के द्वारा राज्य का संचालन करता है। जिस प्रकार पुष्प पल्लवों से समृद्ध वृक्ष उन्नति का स्वरूप है, इसी प्रकार समृद्ध राज्य में ही सेनायें सशक्त हो सकती हैं।

प्राचीन आचार्यों का यह कथन है कि सेना के आश्रय से ही धर्म की स्थिति होती है। अत: धर्म की अपेक्षा भी यह श्रेष्ठ है। जिस प्रकार पृथिवी पर जीव निवास करते हैं, उसी प्रकार, बल पर धर्म का निवास है।[३१] सेना के बिना न तो राज्य सुरक्षित रहता है, न कोष का अधिक संग्रह होता है और न ही शक्ति का विकास होता है। कोष और शक्ति की वृद्धि तथा शत्रुओं का विनाश व्यवस्थित सेना ही कर सकती है।[३२] अत: प्रशासन के लिए व्यवस्थित, सुसंगठित और अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित सेना की परम आवश्यकता है।

वैदिक आर्य राज्यों में सेना का संगठन किया जाता था और उसे एक सर्वोच्च पदाधिकारी की देखरेख में रखा जाता था। सेना का यह सर्वोच्च अधिकारी सेनानी कहलाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा के रत्नों में सेनानी सर्वोच्च रत्न था। भावी राजा के राज्याभिषेक यज्ञ के अवसर पर राजा सेनानी के निमित्त सर्वप्रथम आहुति देता

था। प्रस्तावित राजा की नियुक्ति में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद् के नवम् मण्डल के एक सूक्त में सोम को राजपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। सोमराजा शत्रु-जय हेतु अपनी सेना के साथ शत्रु से गौएँ प्राप्त करने के लिए युद्धभूमि की ओर प्रस्थान करता है। इस अवसर पर उसकी सेना के आगे-आगे सेनानी इस सेना का संचालन करता हुआ उत्साह के साथ गमन करता हुआ दिखलाया गया है। उसकी सेना भी अपने सेनानी के अधीन हर्षोल्लास पूर्वक पीछे-पीछे गमन करती हुई वर्णित है।[33]

यजुर्वेद में एक स्थान पर सेनानी वेश में रुद्र की स्तुति की गयी है। रुद्र की स्तुति में कहा गया है- "ज्योति के समान तीव्र तेजयुक्त अथवा चमचमाते हुए बाहुरक्षक धारी सेनानी वेशधारी रुद्र को नमस्कार है।[34] इसी प्रकार यजुर्वेद में कई प्रसंगों में सेनानी का उल्लेख है। यजुर्वेद में एक प्रसंग में सूर्यदेव का वर्णन राजा के रूप में है। इस प्रसंग में उसका सेनानी उनके रथ के अग्रभाग में आसीन वर्णित है।[35]

अथर्ववेद में सेनापति की नियुक्ति के विषय में निम्न प्रकार से वर्णन पाया जाता है- "हे राजन् ! तुझसे अधिक शक्तिशाली इस सेनापति को मैं तेरी सहायता के लिए नियुक्त करता हूँ, जिस से प्रेरित हुए सैनिक सदा विजय प्राप्त करते हैं, कभी पराजित नहीं होते। सेनापति राजा को सम्पूर्ण राजमण्डल और मनुष्यों में एकमात्र सर्वश्रेष्ठ बनाता है।[36]

सेनानी के गुण एवं योग्यता :

वेद के अनेक मन्त्रों में सेनापति की योग्यता, गुणों तथा कर्त्तव्यों के विषय में सुन्दर प्रकाश डाला गया है। सेनापति से प्रार्थना करते हुए प्रजाजन कहते हैं- "हे इन्द्र! तु संग्राम में विजय प्राप्त कर। सेना से आक्रमण करने वाले शत्रुगण को नीचा दिखा, जो हमें नष्ट करना चाहते हों, उन्हें अधोगति रूपी अंधकार में ले जा।"[37]

सम्पूर्ण सेनाओं में शीघ्रकारी वर्षभ के समान भयंकर शत्रुरोदक, रिपुप्रकम्पक, निरन्तर प्रयत्नशील, विजयशील आत्मवशी, बाहुबल से पूर्ण, युद्धशील, उग्रधन्वा आदि विविध रूपों में सेनापति का वर्णन करते हुए योद्धाओं का सेनापति के साथ मिलकर विविध शस्त्रास्त्रों से शत्रु सेना का विनाश कर वीरता प्रदर्शन करने का अति तेजस्वी वर्णन वेदों में किया गया है।

सेनानी के घर जाकर राजा द्वारा किये जाने वाले रत्नहवींषि याग में देवता अनीकवान् अग्नि, हवि, कपाल पुरोडाश तथा दक्षिणा हिरण्य की होती थी।[38]

तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता और काठक संहिता के अनुसार सेनानी का स्थान रत्नियों में पाँचवां है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसे छठा और शतपथ ब्राह्मण में प्रथम स्थान दिया गया है।[39] ऐसा प्रतीत होता है कि राजाओं की साम्राज्यवादी

मनोवृत्ति के विकास के कारण ब्राह्मण युग के अन्त तक सेनानी का पद काफी महत्त्वपूर्ण हो गया था। अधिकांश ग्रन्थों में इसके पाँचवें स्थान के कारण तथा पंचविंश ब्राह्मण के वीरों की सूची में इसके अनुल्लेख के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि शासन विभाग की तुलना में सेना विभाग का महत्त्व कुछ कम था।[४०]

सेनानी के घर पर पवित्र वैदिक देवता अग्नि को हवि प्रदान किया जाता था। सेनानी अग्नि देवता का पार्थिव प्रतिनिधि प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य में अग्नि का उल्लेख सेना के अग्रणी नेता के रूप में भी हुआ है।[४१] सेनानी का कार्य भी युद्धों में सेना का नेतृत्व करना ही था।

ग्रामणी

वैदिक काल में राज्य के उच्च कार्यकत्ताओं में ग्रामणी का स्थान भी सेनानी के समान ही महत्त्वपूर्ण होता था। ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक सूक्त में दक्षिणा के महत्त्व का वर्णन है। इस सूक्त में, दक्षिणा देने से दाता पुण्यभागी बनता है, उसे यश प्राप्त होता है, उत्सव एवं समारोहों में वह प्रथम आमंत्रित किया जाता है, वह राजपद पाने का अधिकारी बन जाता है, आदि शब्दों से दक्षिणा दाता की प्रशंसा की गई है। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि दक्षिणा दाता ग्रामणी पद पाता है।

ऋग्वेद के इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में ग्रामणी पद विशेष महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानित बतलाया गया है। उसमें कई ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें सेनानी और ग्रमणी का उल्लेख साथ-साथ है।[४१] इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि ग्रामणी पद भी सेनानी के समान ही वैदिक आर्य राज्यों में महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित होता था। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में वैदिक राज्यों के विविध व्यवसायियों, शिल्पियों, कार्यकर्त्ताओं आदि का संकेत रूप में उल्लेख है। इसी प्रसंग में ग्रामणी की ओर भी संकेत मिलता है। इस वर्णन में ग्रामणी को सम्मान का पात्र बतलाया गया है।[४२] अथर्ववेद के इस प्रसंग में, प्रस्तावित राजा अपने राज्याभिषेक के अवसर पर पर्णमणि को सम्बोधित करता है- हे पर्ण। ग्रामणी को मेरा सहायक बना।[४३] अथर्ववेद में ग्रामणी वैदिक राजा के रत्नों में से एक महत्त्वपूर्ण रत्न बतलाया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ग्रामणी राज्य के उच्च कार्यकर्त्ता के रूप में वर्णित है।

संहिताओं में ग्रामणी का उल्लेख वैश्यग्रामणी के रूप में हुआ है। इससे यह पता चलता है कि वह गाँव में रहने वाले लोगों का प्रधान होता था। एक अनुमान यह है कि वह राजधानी में रहने वाला वंशानुगत क्षेत्रस्वामी था। लेकिन ऐसा कोई आधार भी नहीं मिलता, जिससे सिद्ध होता हो कि वह सदा राजधानी में ही रहता हो। भरतों, कुरुओं और पंचालों के राज्य इतने बड़े नहीं हुए थे कि राजा अपने अपने राज्य के सभी भागों में सरलता पूर्वक आवागमन न कर सकता हो। यह निश्चय करना कुछ कठिन

सा ही है कि ग्रामणी का वास्तविक कार्य क्या था। इस बात की पूरी संभावना लगती है कि वह युद्धक्षेत्र में जनता के छोटे-छोटे समूहों का नेतृत्व करता हो, और यह भी संभव है कि वह ग्रामीण जनता की सामान्य देख-रेख का काम भी करने लगा हो। इससे यह ज्ञात होता है कि ग्रामणी सैनिक, असैनिक दोनों प्रकार का संयुक्त पदाधिकारी था, जिसके सैनिक असैनिक दोनों प्रकार के कर्त्तव्य होते थे।

ग्रामणी पद का वास्तविक अर्थ ग्रामनेता अथवा जनसमूह का नेता था, यह स्पष्ट नहीं है। अनेक विद्वान् ग्रामणी को ग्रामनेता मानते हैं, परन्तु कतिपय अन्य विद्वान् उसे जननेता स्वीकार करते हैं। बाल्मीकीय रामायण में भी ग्रामणी का उल्लेख प्रतिष्ठित पदाधिकारियों में है।[४४] महाभारत में ग्रामणी जननेता के रूप में वर्णित है।[४५]

रत्नहवींषि याग में ग्रामणी का देवता मरुत् तथा हवि कपाल पुरोडाश प्रतिपादित किया गया है। इसकी दक्षिणा चितकबरी गौ मानी गयी है।

सूत :

राजा के मन्त्रिमण्डल अर्थात् रत्नियों में सूत का भी उल्लेख किया गया है। वैदिक वाङ्मय में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। यजुर्वेद में एक स्थान पर सूत-वेशध ारी रुद्र की स्तुति की गई है और सूत के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया गया है।[४६] वेदभाष्यकारों ने इस प्रसंग में सूत को सारथि माना है। उनका यह मानना है कि इस प्रसंग में सूत का विशेष लक्षण दूसरे को न मारने वाला (अहत्य) है। सूत युद्ध में रथ संचालन करता था। वह योद्धा के रूप में कार्य नहीं करता था, अर्थात् दूसरे (शत्रु) को मारता नहीं था। परन्तु कुछ विद्वान् 'अहत्यै' पद का अर्थ अवध्य करते हैं। उनके मतानुसार सूत राजा का प्रशस्तिकार अथवा विशेष ऐतिहासिक घटनाओं का संकलनकर्त्ता होता था। इसी कारण उसे अवध्यता का अधिकार दिया गया था। सूत के इस विशेष स्वरूप की ओर ही यजुर्वेद के इस मन्त्र में संकेत किया गया है। यजुर्वेद के तीसवें अध याय के एक मन्त्र में इस विषय की अप्रत्यक्ष रूप से पुष्टि की गयी है। इस मन्त्र में सूत का सम्बन्ध नृत्त से जोड़ा गया है और स्पष्ट बतलाया गया है कि सूत की उत्पत्ति नृत्त के लिए (नृत्ताय सूतम्) हुई है।[४७] नृत्त एक अत्यन्त उपयोगी कला है। इस कला द्वारा मनुष्य अपने इंगित, आकार, चेष्टा तथा शरीर के विविध अंगों द्वारा भाव व्यक्त करता है। इस संकेत से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सूत का स्वरूप भी इससे मिलता जुलता रहा होगा। यह वर्णन मध्यकालीन राजा, महाराजाओं की स्तुति करने वाले भाटों अथवा चरणों से मिलता हुआ सा दिखाई देता है। लेकिन ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि राजा सूत के घर जाकर वरुण को हवि अर्पित करता है, जिसके लिए दक्षिणा के रूप में घोड़ा देने का विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि यह विशिष्ट व्यक्ति सारथी था।[४८] एक अन्य स्थान पर इसका जो उल्लेख मिलता है उसमें इस

अधिकारी को और स्थपति को एक ही माना गया है।[४९] स्थपति शब्द के शासक वास्तुकार, प्रधान, प्रधाननिर्माता, बढ़ई और चक्रनिर्माता आदि अनेक अर्थ संभव हैं।[५०] इनमें से शासक और प्रधान न्याय कर्त्ता ये दो अर्थ अधिक ग्राह्य माने गये हैं। लेकिन रथ के साथ सूत के सम्बन्ध को देखते हुए, चक्रनिर्माता अर्थ सन्दर्भ के अधिक निकट बैठता है। सूत संभवत: सारथि और रथकार दोनों के कार्य करता था। चूँकि उसके कार्यों का सम्बन्ध शारीरिक श्रम से था, शायद इसीलिए परवर्ती काल में उसका सम्मान कम हो गया। किन्तु पूर्ववर्ती काल में उसका महत्त्व पर्याप्त था।

अथर्ववेद में सूत को राजा के रत्नों अथवा राजकर्त्ताओं में परिगणित किया गया है। वैदिक राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर उसे राजपद देने में सूत की अनुमति भी वांछनीय होती थी। अथर्ववेद के इसी प्रसंग में अपने राज्याभिषेक के अवसर पर प्रस्तावित राजा पर्णमणि को सम्बोधित करता हुआ कहता था- "हे पर्ण ! सूत को मेरा सहायक बना।"[५१]

शतपथ ब्राह्मण में इन दोनों को "अराजवंशीय राजकर्त्ताओं (यथा वै राज्ञोऽराजानो राजकृत:) की श्रेणी में परिगणित किया गया है।"[५२] रामायण महाभारत में भी सूत का उल्लेख है। महाभारत के शान्तिपर्व में सूत राजा की मंत्रिपरिषद् का एक सदस्य बतलाया गया है। सूत का प्रधान कर्त्तव्य अपने समय की, विशेष रूप में अपने स्वामी राजा से सम्बन्धित, ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन करना था। मंत्रिपरिषद् की सदस्यता हेतु सूत की योग्यता एवं उसके गुणों का वर्णन करते हुए भीष्म ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है-"आठ गुणों (सेवा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह्न, अपोहन विज्ञान और तत्त्वज्ञान) से युक्त प्रगल्भ, अनसूयक, पचास वर्षीय, श्रुति और स्मृति का ज्ञाता, विनीत, समदर्शी, कार्य में विवदमान पुरुषों में समर्थ, सात प्रकार के घोर व्यसन रहित और पौराणिक सूत होना चाहिए।[५३] महाभारत के इस उद्धरण के आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक सूत भी राजा के समीप रहता हुआ, इसी श्रेणी का कार्य करता होगा।

क्षत्रिय :

राजा के छत्र को धारण करने वाले अथवा उसकी रक्षा का भार ग्रहण करने वाले को क्षत्रिय का पद दिया गया था।

क्षतृ के दो अर्थ बताए गए हैं- तक्षक और क्षत्रधर। किन्तु इनमें से प्रथम अर्थ अधिक उपयुक्त नहीं है। क्योंकि वह तक्षन् नामक रत्नि पर अधिक लागू होता है, और इसीलिए क्षतृ का यह अर्थ अनुचित सिद्ध हो जाता है। संभवत: यह राजा का परिपार्श्वक भी रहा हो।

सूत की तरह परवर्ती काल में उसका स्थान भी नीचे आ गया और वह वर्णसंकर

जाति के सदस्य के रूप में तिरस्कृत कर दिया गया। क्षत्तृ का थोड़ा सा सम्बन्ध सविता से भी दिखलाया गया है, जो देवताओं का प्रेरक था। रत्नहवींषि याग में क्षत्तृ के देवता, सविता को कपाल, पुरोडाश की हवि प्रदान की जाती थी। दक्षिणा के रूप में श्वेत बैल अथवा दो जुड़वा गायें दी जाती थी।

संग्रहीता :

यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के एक मन्त्र में संग्रहीता नाम के एक अधिकारी की ओर संकेत किया गया है।[५४]

विद्वानों ने संग्रहीता को अर्थ विभाग का विशेष पदाधिकारी माना है। वह भी राजकर्त्ताओं में था। टीकाकारों के मत को दृष्टिगत करते हुए तथा अर्थशास्त्र के सन्निधाता नामक अधिकारी से इसकी समानता स्थापित करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह कोषाध्यक्ष था।[५५] अधिकांश ग्रन्थों में भागदुक् के साथ इसके उल्लेख से भी इसकी पुष्टि होती है। अनेक विद्वानों ने संग्रहीतृ का अर्थ वल्गा धारण करने वाला (Holder of the reins) या रथचालक स्वीकार किया है।[५६] तथा इस आधार पर उसे प्रमुख योद्धा का सारथी माना है।

संगृहीता का उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद में नहीं मिलता। इनका उल्लेख यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में है, इससे प्रतीत होता है कि नियमित रूप से राजकर वसूलने की परम्परा तथा राजकोष की व्यवस्था उत्तर वैदिक युग में भली-भांति पुष्ट हो चुकी थी।

इसका शाब्दिक अर्थ लगाम पकड़ने वाला या चालक है।[५७] अत: यह रत्निन् कोई निम्न श्रेणी का सारथि था, जो मुख्य योद्धा के सारथि के रूप में कार्य करने वाले सूत से भिन्न था। गोहरण अनुष्ठान में रथ की भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि रथ का निर्माण या संचालन करने वाले नाना प्रकार के लोगों को ऐसी प्रतिष्ठा प्रदान कि जाए। संग्रहीतृ के सारथि होने का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि उसके घर पर राजा रत्नहवींषि याग में अश्विनों को हवि अर्पित करता था।

कुछ विद्वान् संग्रहीता को युद्धभूमि में युद्ध काल में इधर-उधर बिखरी हुई युद्ध सम्बन्धी सामग्री को संग्रह करने वाला कर्मचारी मानते हैं। इस दृष्टि से तो उसका सम्बन्ध राजकोष से जोड़ना उचित प्रतीत नहीं होता। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे रथयोजिता भी माना गया है।

भागदुक् :

यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में विविध प्रकार के व्यवसायियों, कर्मचारियों, विशेष

अधिकारियों आदि की ओर संकेत किये गये हैं। इसी प्रसंग में भागदुक् नाम के एक कर्मचारी की ओर संकेत है।[५८] भागदुक् को अर्थविभाग का कर्मचारी बतलाया गया है। उसका मुख्य कर्त्तव्य राज्य की जनता से कर संचय करके उसे राजकोश में संग्रहीत करना माना गया है। यद्यपि रत्नियों की सूचियों में भागदुक् का स्थान कुछ नीचे है, फिर भी वह महत्त्वपूर्ण रत्निन है। एक स्थान पर इस शब्द का अर्थ भागों का वितरक किया गया है।[५९] अर्थात् भागदुक् वही काम करता था जो पूषन् की विशेषता बताई गई है। चूँकि भागदुक् के घर पशु देवता पूषन् को हवि अर्पित की जाती है।[६०] जिसका काम भागों को बाँटना था, इसलिए इसकी पूरी संभावना है कि अन्न के रूप में या पशुओं के रूप में जो भाग राजा के पास आता था वह राजपदाधिकारियों के बीच बाँटा जाता था। संभवत: उत्तर वैदिक काल में पशुपालकों और किसानों से अतिरिक्त खाद्य सामग्री प्राप्त की जाती हो और भागदुक् उस राजा के सेवकों के बीच बाँटने का काम करता रहा हो।

भागदुक् यौगिक शब्द है जिसका अर्थ है भाग दुहने वाला अथवा भाग संचय करने वाला। गाय दुहने वाला जैसे गाय को शनै: शनै: दूध दुहकर पात्र में संचित करता है, इसी प्रकार भागदुक् राज्य की प्रजा से भाग-संचय (कर-संचय) करने वाला कर्मचारी था। उसका पद राज्य के विकास की उस स्थिति का संकेत करता है जब राज-कर ऐच्छिक न रहकर अनिवार्य हो चुका था। ऋग्वेद में राजा को प्राप्त होने वाले ऐच्छिक उपहारों को बलि कहा गया है। किन्तु उत्तर वैदिक युग तक राजा प्रजा की आय के एक निश्चित भाग का अधिकारी समझा जाने लगा था। संभव है इस भाग का अभिप्राय यहाँ धर्मसूत्रों में उल्लिखित षष्ठांश से ही हो।

अक्षावाप:

भाष्यकारों ने अक्षावाप को द्यूताध्यक्ष माना है और चूँकि ऋग्वेद के अक्षनिन्दा कृषि प्रशंसा सूक्त में द्यूत की विशेष निन्दा की गई है, इससे यह संकेत मिलता है कि ऋग्वेदीय आर्य राजाओं ने द्यूत पर नियन्त्रण रखने के लिए इस पदाधिकारी की आवश्यकता अनुभव करते हुए इसकी नियुक्ति की होगी। इसलिए अक्षावाप को राज्य के उच्च कार्यकर्त्ताओं में स्थान दिया गया है। हिन्दू पालिटी के विद्वान् लेखक जायसवाल ने इस मत से अपनी असहमति प्रदर्शित की है। उनके अनुसार अक्षवाप अर्थ विभाग का एक विशेष अधिकारी था जो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित अक्षपटल नाम के पदाधिकारी के समकक्ष था।[६१] यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में अक्षराज का उल्लेख है।[६२] परन्तु यह अक्षवाप से भिन्न है। क्योंकि अक्षराज तो अत्यन्त कुशल जुआरी अर्थात् जुआरियों का सरदार होता था।

शतपथ ब्राह्मण में अक्षावाप के साथ अक्ष (पाँसा) और जुआ खेलने वाली पटरी

का भी उल्लेख है, जिससे द्यूत क्रीड़ा के साथ इसका कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा होगा, यह संकेत मिला है। सम्भव है कि वह द्यूतक्रीड़ा तथा अन्य सामाजिक आनन्दोत्सवों का प्रबन्धक रहा हो।

गोविकर्त्ता :

इस रत्नी का उल्लेख तीन सूचियों में मिलता है किन्तु तीनों सूचियों में इसके नाम में कुछ अन्तर है। मैत्रायणी संहिता में इसे गोविकर्त्ता, काठक संहिता में गौव्यच्च और शतपथ ब्राह्मण में 'गोविकर्त्तन्' कहा गया है। जायसवाल महोदय ने इसे जंगलों का प्रधान अधिकारी माना है।[६३] तथा घोषाल ने इसे शिकारियों का प्रधान माना है।[६४]

गो शब्द वैदिक भाषा में सामान्य पशुओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वैदिक राज्यों में वन अपेक्षाकृत अधिक थे। इन वनों को स्वच्छ कर आर्य-बस्तियाँ स्थापित की जाती थीं और अरण्यभूमि, कृषि भूमि में यथा सम्भव परिवर्तित कर दी जाया करती थी। उस समय में वनों में अरण्य पशुओं की संख्या अधिक होती थी। इसलिए वनों की शुद्धि करना आवश्यक था। इसलिए उनके इस कार्य की सिद्धि के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। इस विशेष पदाधिकारी को गोवित्कर्त्ता के नाम से सम्बोधित किया जाता था। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में एक मन्त्र में "गां विकृन्तन" नामक एक अधिकारी का संकेत प्राप्त होता है। संभवत: यह गोवित्कर्त्ता ही होगा।[६५] इस अधिकारी को वर्तमान समय के पदाधिकारी वन अधिकारी (अरण्यपाल) के समकक्ष माना जा सकता है। यजुर्वेद के एक अन्य प्रसंग में शूद्र को वनों का पालन करने वाला (अरण्यपति) कहा गया है।[६६] इससे भी यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में वनों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

पालागल :

यह राजा के आदेशों को निर्दिष्ट व्यक्तियों अथवा स्थान तक पहुँचाने वाला कर्मचारी था। पालागल एक स्थान से दूसरे स्थान तक संदेश ले जाने वाले दूत का कार्य करता था। इसे वर्तमान युग का संदेश वाहक (हरकारा) कहा जा सकता है। अल्तेकर महोदय उसे परवर्ती युगों के विदूषक की भांति राजा का अन्तरंग मित्र मानते हैं किन्तु शतपथ ब्राह्मण से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वह संदेशवाहक का काम अथवा दौत्य कर्म करता था।[६७] यह शूद्र वर्ण का होता था।[६८] शूद्र होते हुए भी उसका राजनैतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य घटनाओं, कुचक्रों एवं विचारधाराओं की सूचना वह राजा को देता था। साथ ही राजकीय सन्देश दूसरे राज्यों में पहुँचाने का कार्य करता था। इस प्रकार राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध युद्ध और विग्रह की स्थिति में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान था।

महिषी :

शतपथ ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थों की सूचियों में तीसरा स्थान महिषी को प्राप्त है। इसका शाब्दिक अर्थ पटरानी (प्रधान रानी) है, जिससे संकेत मिलता है कि राजा अनेक रानियों से विवाह करता था, इससे बहुपत्निप्रथा की पुष्टि होती है। कुछ विद्वानों का कहना है कि रानी मनोनीत राजा की अर्धांगिनी का स्थान पूर्ण करती है। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में जो व्याख्या दी गई है, उससे इस अनुमान का समर्थन नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि महिषी, जिसके घर अदिति को हवि अर्पित की जाती थी, पृथ्वी की द्योतिका है, जो दुधारु गाय और माता की तरह लोगों का भरण-पोषण करती है और उसकी मनोकामनाएँ पूर्ण करती है। इससे यह भी सन्देश मिलता है कि उत्तर वैदिक काल की राज्यव्यवस्था में मातृत्व को महत्त्व प्राप्त हो गया था। इससे यह भी प्रकट होता है कि वैदिक काल में रानी की हैसियत राजा की पत्नी की ही नहीं थी बल्कि शासन व्यवस्था में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। धार्मिक अनुष्ठानों में भी पत्नी का सहयोग अनिवार्य था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अपत्नीक व्यक्ति यज्ञ कर्म का अधिकारी नहीं होता था।[६६] ऐसी स्थिति में राजसूय के अवसर पर पत्नी की उपस्थिति निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही होगी। किन्तु रत्नी-सूची में महिषी की महत्त्वपूर्ण स्थिति उसके शासन सम्बन्धी उत्तरदायित्वों की ओर भी स्पष्ट संकेत करती है, क्योंकि रत्नी सूची के सभी सदस्य प्राय: राजनैतिक एवं प्रशासकीय महत्त्व के व्यक्ति हैं। महिषी की स्थिति सर्वसाधारण के लिए राजमाता की थी, जो न केवल पारिवारिक जीवन में राजा की पत्नी होती थी बल्कि राष्ट्रीय जीवन में राजा के साथ प्रजा पालन के गुरुत्तर उत्तरदायित्व का वहन करती थी। कानून की दृष्टि से महिषी का स्थान सर्वोच्च था।

रत्निन् के रूप में अन्य दो रानियों के उल्लेख से भी इस तथ्य का समर्थन होता है।

परिवृत्ती :

तीन संहिताओं में चौथा और एक ब्राह्मण में पाँचवां नाम परिवृत्ति का माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में परिगणित रत्नियों की सूची में उसे विधिवत् सम्मिलित नहीं किया गया है। रत्नियों का परिगणन करने के पश्चात् परित्यक्ता पत्नी के रूप में उसका उल्लेख किया गया है। उसका कोई पुत्र नहीं है। राजा उसके पास इसलिए आता है कि उसका कोई अनिष्ट न हो।[७०] यद्यपि यहाँ जिस प्रकार का उल्लेख किया गया है उससे यह पता नहीं चलता कि राजा कैसी पत्नी का समर्थन प्राप्त करना चाहता है, किन्तु यह भी सत्य है कि वह राजा का अनिष्ट करने का सामर्थ्य अवश्य रखती थी। अन्य रीतियों की तरह वह राजा की सहायता का स्रोत नहीं, अपितु ऐसे विरोध का स्रोत समझी जाती थी, जिसे शमित रखना आवश्यक था।

वावाता :

रत्निन् के रूप में राजा की प्रिय पत्नी अर्थात् वावाता का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में है, जिसमें इसका स्थान चौथा माना गया है। वावाता का स्थान उसके प्रति राजा के प्रेम और विशेष कृपा पर निर्भर था।

राजा की परिवृत्ति और वावाता नामक इन दोनों पत्नियों के राजनैतिक महत्त्व का कारण प्रायः अज्ञात है। संभव है कि इन राजपत्नियों को सम्मानित करने के लिए तथा इन्हें विरोध का अवसर न प्रदान करने के लिए ही रत्नी वर्ग का सदस्य माना गया है।

इन तीनों का रत्नी वर्ग का सदस्य होना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि उत्तर वैदिक समाज में स्त्रियों की दशा इतनी उच्च थी कि राजनैतिक कार्यों में भी सहयोग करती थी। सम्भव है कि सामान्य स्त्रियाँ राजनैतिक जीवन से अलग रही हों जैसा कि मैत्रायणी संहिता में स्त्रियों के सभा-गमन के विरोध से प्रकट होता है।[७१] किन्तु इसके विपरीत पंचविश ब्राह्मण में वीरों की सूची में महिषी की गणना तथा राजपत्नियों की रत्नी मण्डल की सदस्यता इस बात को प्रमाणित करती है कि स्त्रियाँ नियमतः राजनैतिक जीवन से पृथक् नहीं थीं।

सन्दर्भ

१- स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्तप्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्ग राज्यमुच्यते।।मनु० ६.२६४
स्वाम्यमात्यजनदुर्गकोशदण्ड मित्राणिप्रकृतयः।।कौटिल्य० ६.१
याज्ञ० १.३५३, विष्णु धर्म सूत्र ३.३३ आदि

२. अथर्ववेद १:२६.१-६

३. ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः। उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितोजनान्।।
अथर्व० ३-५.६

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितोजनान्।।
अथर्व ३.५.७

४. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.१

५. शत०ब्रा० १.१.३.५

६. मैत्रायणि संहिता ५.६.२

७. ता० ब्रा० १६.१.४

८. राजानो राजकृतः, अराजानो राजकृतः। शत० ब्रा० १८.२.२.१३

६. तैत्ति०ब्रा० १.७.३.१

१०. मैत्रा० सं० ४.६.८

११. यस्य वा एतान्योजस्विनी भवन्ति तद्राष्ट्रमोजस्वि भवति यस्य वा तानि तेजस्वीनि भवन्ति तद्राष्ट्रं तेजस्वी भवति। मैत्रा सं० ८.३

१२. मैत्रा० सं० ८.३.४

१३. तैत्ति०ब्रा० १.७.३.१

१४. शत० ब्रा० ५.३.१.१-१२

१५. शत०ब्रा० ४.३.१.१२

१६. ता० ब्रा० १६.१.४

१७. शत०ब्रा० ५.४.४. १५-१६

१८. आप०श्रौ०सू० XVIII १८,१४-१६१

१९. शत० ब्रा० ४.६.२.१३

२०. निरुक्त १२.२

२१. अग्निमीड़े पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्होतारं रत्नधातमम्। ऋग् १.१.१

२२. ऐत० ब्रा० ८.२४-२८

२३. शत० ब्रा० ५.३.१

२४. ता० ब्रा० १६.१.४

२५. ऐत० ब्रा० ४०.१

२६. ऐत० ब्रा० ४०-२

२७. म० ब्रा० २.८,५,६ । गो० गृह्य० ४.१०.७,८

२८- क्षत्रेण क्षत्रं जयति बलेन बलमश्नुते यस्यैवं विद्वान ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितस्तस्मै विशः संजानते सम्मुखा एकमनसो यस्येवं विद्वान ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितः। ऐत० ब्रा० ४०.४

२९- तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म-तस्माद् धर्मात्परं नास्ति...। शत ब्रा० १४

३०- सेना शस्त्रास्त्र संयुक्ता मनुष्यादिगणात्मिका। शुक्रनीतिसार ४.७.१

३१- बलं मनः। वही १.६.२

३२- सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च। वही

३३- यू०एन० घोषालः ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज पृ० २३१

३४- शुक्रनीतिसार ४.७.४-६

३५- ऐत० ब्रा० ३६.१, शत०ब्रा० १४.१

३६- ऋग्वेद-१.६.६

३७- यजुर्वेद १७.१६

३८- यजुर्वेद १५.१५

३९- युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम्।। अथर्व ४.२२.५

४०- वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छा पृतन्यतः। यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः।।
यजु० १८.७०

४१- शत० ब्रा० ५.२.५.१

४२. शत० ब्रा० ५.२.५.१, तैत्ति० ब्रा० १.७.३. तैत्ति० सं० १.८.६

४३. घोषाल-स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर; पृ० ३०७

४४- अथर्ववेद-३.१.१

४५- यजुर्वेद १५ । १५-१६

४६- नर्माय पुश्चलूं हसाय कारि यादसे शाबल्यां ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं तान्महसे वीणा-वादं पाणिघ्न तूणवध्मं.....। यजु० ३०/२०

४७- .....अथर्व० ७.५.३

४८- वा० रा० युद्धकाण्ड- १६.११७

४९- महा० शान्तिपर्व १०, ११/१३५

५०- नभो बभ्भलशाय व्याधिनेन्नानाम्पतये नमो नमो भुवस्य हे त्यै जगताम् पतये नमो, नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो नमः, सूताया हन्त्यै.....। यजु० १६.१८

५१- नृत्याय सूतंगीताए शैलूषं धर्माय सभाचरन्वरिष्ठायै भी मलन्नम्मयि रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषरवं प्रमदे कुमारीपुत्रं.....यजु० ३०.६

५२- शत० ब्रा० ५.३.१.५

५३- शत०ब्रा० ५.४.४.१७-१८

५४- मोनियर-विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी

५५- अथर्व ७.५.३.

५६- शत० ब्रा० १८.२.२.१३

५७- महाभारत शान्तिपर्व ६ से ११/८५

५८- यजु० १६-२०

५९- जायसवाल-हिन्दू पॉलिटी, पृ० २०२

६०- शत०ब्रा० ५.३.१.८ पर इंग्लिश की टीका

६१- जायवाल-हिन्दू पालिटी : पृ० २०२

६२- शत० ब्रा० ५.३.१.८

६३- ऋतये स्तेन हृदयं वैरहत्याय पिशुनं विविक्तयै क्षत्तारमौपद्रष्ट्यायानुक्षत्तारम्बलायानुचरम्भूम्ने परिष्कन्दम्प्रियाय प्रिय वादिन मरिष्ट्या अश्वसादं स्वर्गाय भागदुधं.....।

यजु० ३०.१३

६४- शत०ब्रा० १.१.२.१७

६५- शत०ब्रा० ५.३.१.६

६६- डा० जायसवाल कृत हिन्दू पालिटी पृ० २०२, २०३

६७- यजु० १८-३०

६८- जायसवाल कृत हिन्दू पालिटी पृ० २०३

६९- हिस्टीरियोग्रैफी एण्ड अदर एजेज पृ० २४६

७०- यजु० ३०/१८

७१- यजु० १६/१८

७२- शत०ब्रा० ५.३.१.११

७३- शत०ब्रा० १३.५.५.८

७४- शत०ब्रा० ५.१.६.१०

७५- मै० सं० ४.७.४

कौटिल्यअर्थशास्त्र में वर्णित धर्म और राजनीति

डॉ0 देवेन्द्र कुमार गुप्ता
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राचीन भारत में हमें राज्य व्यवस्था के विकास में धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान दिखलाई पड़ता है। धर्म और राजनीति के घनिष्ठ सम्बन्धों की जानकारी हमें सबसे पहले वैदिक साहित्य से मिलती हैं। जहाँ राजा की सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए पुरोहित अनेक अनुष्ठानों का आयोजन करता था। लेकिन वैदिकोत्तर काल में जब राजतन्त्र का आधार सुदृढ़ हो गया तो इस सम्बन्ध का रूप भी बदल गया। अब वैदिक कर्मकाण्ड जहाँ राजा की सत्ता को सुदृढ़ करते थे वहीं उस पर अंकुश भी लगाते थे। लेकिन कौटिल्य अर्थशास्त्र से हमें जिन धार्मिक विधानों और कार्यों की जानकारी मिलती है उनका उद्देश्य राजा की सत्ता को सीमित करने के बजाय उसे सुदृढ़ करना है। यद्यपि अर्थशास्त्र में धर्म और राजनीति पर कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है। लेकिन फिर भी अनेक स्थानों पर ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रकट करते हैं। इनसे प्रकट होता है कि राज्य की आन्तरिक नीति के निर्धारण में और बाहरी शत्रुओं से निपटने में धर्म का प्रभावकारी ढंग से उपयोग किया जाता था।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित राज्यव्यवस्था का मूल आधार वैदिक धर्म को माना जा सकता है। वैदिकोत्तर काल में सामाजिक ढाँचे की आधारशिला वर्णाश्रम व्यवस्था की व्याख्या कौटिल्य उन्हीं शब्दों में करते हैं जिनके दर्शन हमें धर्मसूत्रों में होते हैं। वह इस बात पर जोर देते हैं कि प्रत्येक वर्ण स्वधर्म पर चले और जो व्यक्ति अपने धर्म का पालन करता है वह आनन्द की प्राप्ति करता है। पर जो अपने धर्म का उल्लंघन करता है उसका नाश हो जाता है। इसीलिए कौटिल्य राजा को निर्देश देता है कि वह लोगों को धर्म से विमुख न होने दें और स्वयं भी धर्म का पालन करे। क्योंकि राजा जैसा आचरण करता है प्रजा भी उसी तरह का व्यवहार करती हैं। इसीलिए एक स्थल पर राजा को धर्मप्रवर्तक कहा गया है। लेकिन यहाँ धर्मप्रवर्तक से तात्पर्य किसी नये धर्म के प्रवर्तक से नहीं है बल्कि उस अवस्था में राजा को धर्मप्रवर्तक बताया गया है, जहाँ वर्णाश्रम धर्म नष्ट हो गया हो।

चतुर्वर्णाश्रयस्ययम् लोकस्याचाररक्षणात्। नश्यतां सर्वधर्माणम् राजा धर्मप्रवर्तक:। III.I

इससे स्पष्ट है कि राजा को मनोनुकूल समाज व्यवस्था स्थापित करने की स्वतन्त्रता नहीं दी गयी है बल्कि उसे विनष्ट व्यवस्था को पुनरुत्थापित करने को कहा गया है।

कौटिल्य राज्य की विदेश नीति के निर्धारण में भी धर्म का महत्वपूर्ण स्थान मानता है। उसके अनुसार राजा को विजित लोगों के धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं का आदर करना चाहिए तथा विजितों के क्षेत्रीय और धार्मिक त्यौहारों, स्थानीय देवी-देवताओं और विद्वानों के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करना चाहिए।XIII.5। इसी कारण राजा को विजितों के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन करने को कहा गया है। साथ ही उसके लिए यह भी आवश्यक बताया गया है कि वह स्वयं उनके धार्मिक रीति रिवाजों का पालन तो करे लेकिन साथ ही उनके बीच ब्राह्मण समाज व्यवस्था के मुख्य सिद्धान्तों को भी लागू करें।

कौटिल्य का ब्राह्मणों के प्रति विशेष दृष्टिकोण उस समय की विशेष परिस्थितियों को उजागर करता है क्योंकि वे प्रचलित समाज व्यवस्था के वैचारिक संरक्षक थे और धार्मिक कार्यों से उनका विशेष सम्बन्ध था। इसी कारण अर्थशास्त्र में उन्हें सबसे अधिक सम्मान प्रदान किया गया है। इसमें कहा गया है कि मानवों में उन्हें वही स्थान प्राप्त है जो स्वर्ग में देवताओं को-

ये देवा देवलोकेषु च ब्राह्मणः। XIV.3

कौटिल्य यज्ञ में ब्राह्मणों को पौरोहित्य करने और बदले में दान-दक्षिणा पाने के अधिकार को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है। राज्य न केवल उनके इन अधिकारों को कायम रखता है वरन् कानूनों द्वारा उन पर अमल भी कराता है। उदाहरणार्थ यदि पुरोहित की मृत्यु हो जाती है तो यज्ञ के छोटे-बड़े स्वरूप और महत्व के अनुसार निर्धारित दक्षिणा उसके उत्तराधिकारी को दी जानी चाहिए।III.14

यदि यजमान यज्ञ पूरा होने के पहले ही पुरोहित को पदमुक्त कर देता है तो वह दण्ड का भागी बनता है।III.14 इससे प्रकट होता है कि दक्षिणा देना यजमान की इच्छा पर निर्भर नहीं बल्कि यह उसकी जिम्मेदारी थी जिसका पालन राज्य करवाता था।

राज्य का धर्म से गहरा सम्बन्ध उन प्रमाणों से भी स्पष्ट होता है जिसमें अनेक देवताओं को राज्य संरक्षण प्रदान करने को कहा गया है। दुर्गनिवेश के सम्बन्ध में कौटिल्य का कहना है कि नगर का उत्तरी भाग नगर देवता और ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित रखा जाए।II.4 नगर के मध्य में देवी-देवताओं को प्रतिष्ठित किया जाए।II.4 नगर के मुख्य द्वारों के नाम चार प्रमुख देवताओं के नामों पर ब्रह्मा, ऐन्द्र, याम्य और

सेनापत्य रखे जाए और राजधानी के अन्दर पूजापाठ और तीर्थ के स्थान बनवाए जाऐं। इसी तरह सीताध्यक्ष (कृषि-अधीक्षक) के कार्यों का विवेचन करते हुए कौटिल्य कहता है कि बुवाई के समय भगवान प्रजापति कश्यप को नमस्कार करने और सीता का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए एक मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिए।II.24

अर्थशास्त्र में आग, बाढ़ और ऐसी ही अन्य दैवी विपत्तियों के निवारण हेतु अनेक धार्मिक अनुष्ठान बताये गये हैं। यद्यपि यह नहीं बताया गया है कि ये अनुष्ठान राज्य को करने थे अथवा नहीं, किन्तु राजपुरोहित के लिए जो योग्यताएं रखी गयी है, उनसे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि इस तरह के अनुष्ठान राज्य की ओर से भी किये जाते होंगे। कौटिल्य के अनुसार राजा अपने राज्य में ऐसे व्यक्तियों को बसाए जिन्हें तंत्र-मंत्र की सिद्धि प्राप्त हो और जो इस प्रकार दैवी-विपत्तियों का निवारण कर सके।IV.3 प्राकृतिक संकटों से प्रजा की रक्षा के निमित कौटिल्य ने राजा के दायित्वों का जो संकेत दिया है, वह राजा के दायित्वों के सम्बन्ध में आदिम दृष्टिकोण से मेल खाता है। पर इन दायित्वों का निर्वाह राजा स्वयं पुरोहित बनकर नहीं करता है बल्कि वह इसके लिए अलग पुरोहित नियुक्त करता है।

कौटिल्य ने धर्म और धार्मिक संस्थाओं से जुड़े स्थानों की सुरक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया है। उसके अनुसार ब्राह्मणारण्य (ब्राह्मण के रहने के वन) सोमारण्य (सोमवन) देवस्थान, यज्ञस्थान और पुण्यस्थान में आने वाली समस्त बाधाओं को राजा को दूर करना चाहिए।III.9 तथा इन स्थानों से छेड़छाड़ करने वाले व्यक्ति के लिए भी दण्ड का विधान किया गया है। साथ ही यज्ञादिकर्म, पूजापाठ और धार्मिक संस्कारों में प्रयोग की जाने वाली सभी वस्तुओं में शुल्क में छूट दी गयी है।II.2 इस प्रकार इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य राज्य की धार्मिक नीति से काफी प्रभावित था। अर्थशास्त्र में एक स्थल पर राजा को दैवी शक्ति के प्रति उत्तरदायी बताया गया है। उसके अनुसार यदि राजा किसी निर्दोष को दण्ड दे तो उसे चाहिए कि उसने उस दण्ड के कारण जितना अन्याय किया है उसका तीस गुना जुर्माना वरूण को अर्पित करते हुए जल में डाले और बाद में यह रकम ब्राह्मणों के बीच बांटे। ऐसा करने से राजा अन्यायपूर्ण दण्ड के पाप से मुक्त हो जाएगा। क्योंकि वरुण पापी मनुष्यों का शासक है- अदण्डयदण्डनेराज्ञो दण्डस्त्रिंशदगुणे अंभसि। वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्तत: परम् II,IV.13 लेकिन कौटिल्य राजा के दैवी अधिकार को किस हद तक मानते थे यह कहना तो कठिन है। लेकिन एक स्थान पर यह कहा गया है कि गुप्तचर लोगों को यह बताएं कि राजा इन्द्र के रूप में पुरस्कार देता है और यम के रूप में दण्ड। अत: उसकी अवहेलना करने वाले लोग दण्ड के भागी बनते हैं। इससे कौटिल्य देवताओं के साथ राजा की तुलना करता है तो उससे पुरोहितों की नहीं बल्कि राजा की शक्ति बढ़ती है।

राजा के प्रति अधिकारियों की असंदिग्ध निष्ठा पर कौटिल्य का कथन है कि उच्चाधिकारियों की मुख्य निष्ठा धार्मिक रीतिरिवाजों के प्रति नहीं बल्कि राजा के प्रति होनी चाहिए। उसका कथन है कि न्यायाधीश के पद पर केवल वही व्यक्ति नियुक्त किये जा सकते हैं जो धार्मिक प्रलोभनों से परे हो। उदाहरणार्थ यदि एक पुरोहित जो राजा के कहने पर भी यज्ञाधिकार विहीन व्यक्ति को वेद की शिक्षा देने से इन्कार कर देता है तो ऐसे व्यक्ति को बर्खास्त कर देना चाहिए। राजा के गुप्तचर अमात्य को राजा के विरूद्ध कार्यवाही करने के लिए भड़काते हैं। ऐसे अमात्य जो इन परिस्थितियों में उत्तेजित न हो उन्हीं को न्यायाधीश नियुक्त करने योग्य माना गया है।I-10 कौटिल्य के इस कथन से सूचित होता है कि न्यायाधीश आदि उच्चाधिकारियों की मुख्य निष्ठा राजा के प्रति होनी चाहिए और यदि उसके निर्वाह में धार्मिक मान्यताओं का उल्लंघन होता है तो उनका उल्लंघन करने में भी संकोच नहीं होना चाहिए।

कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि ब्राह्मणीय संस्थाओं पर भी राज्य का नियन्त्रण था। कौटिल्य ने देवताध्यक्ष नामक एक अधिकारी की व्यवस्था की है जिसका काम नगरीय और ग्रामीण क्षेत्र की विभिन्न प्रकार की देवोत्तर सम्पत्तियों को एक स्थान पर इकट्ठा करके राजकोष में जमा करना है।V.2 यहाँ इसका तात्पर्य मन्दिरों का राज्य को दिये जाने वाले किसी नियमित संग्रह से है या मन्दिरों की जब्त की गयी सम्पत्ति के संग्रह से है। यह स्पष्ट नहीं है। लेकिन चूंकि देवताध्यक्ष के कर्त्तव्यों का उल्लेख कोषपूर्ति प्रकरण में दिया गया है इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि राज्य के प्रयोजन के लिए देवोत्तर सम्पत्ति का भी उपयोग किया जा सकता था।

राज्य की नीतियों पर धर्म के प्रभाव का ऊपर जो विश्लेषण किया गया है उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि बहुत सी बातों में धार्मिक मान्यताओं को अलग रखकर कौटिल्य राज्य की नीति की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिससे दोनों का आपसी सम्बन्ध दो परस्पर विरोधी रूपों में व्यक्त हुआ है। ब्राह्मणीय जीवन पद्धति जिस अंश तक कौटिल्य के राज्य के मुख्य उद्देश्य के अर्थात् वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के अनुकूल है उस अंश तक वह उसका पक्षधर है, लेकिन जो धार्मिक रीतिरिवाज राज्यशक्ति के विस्तार में बाधक है उनका वह त्याग कर देता है। शान्तिपर्व में भी यही विचारधारा दृष्टिगत होती है जिसके अनुसार जो गुरु या मित्र राज्य के सातों अंगों के हितों के विरूद्ध आचरण करे उसे मार देना चाहिए। 57.5 अथवा उसका परित्याग कर देना चाहिए। 57.6-7

कौटिल्य राज्य निस्सन्देह देवताओं और मन्दिरों का विशेष ख्याल रखता है और पुरोहितों के विशेषाधिकारों के दावों को भी मान्यता प्रदान करता है और साथ ही अपधर्मी सम्प्रदायों के प्रति भेदभाव-पूर्ण नीति बरतता है। परन्तु फिर भी उसकी

भेदभाव की नीति उस आत्यंतिक सीमा तक नहीं पहुँचती जिसके दर्शन हमें 'लॉज' में प्लेटो द्वारा प्रतिपादित राज्यधर्म के सिद्धान्त में होते हैं। इसके अनुसार राज्य की एकता और अखण्डता बनाये रखने के लिए कुछ धार्मिक विश्वासों और प्रयासों को सभी वर्गों के लोगों द्वारा मनवाना चाहिए और ऐसा न करने वालों के लिए कारावास या मृत्युदण्ड तक का भी विधान किया गया है। लेकिन ऐसी उत्पीड़न की योजना कौटिल्य अर्थशास्त्र में नहीं मिलती। यद्यपि कौटिल्य इस बात पर जोर देते हैं कि तीनों वेदों पर आधारित धर्म का पालन किया जाना चाहिए लेकिन वैदिक धर्म को न मानने वालों के सन्दर्भ में वह इतना ही कहता है कि इन लोगों के निवास स्थानों पर नजर रखनी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर इनकी सम्पत्ति जब्त कर लेनी चाहिए। उन्हें दंडित तभी करना चाहिए जब वे चोरी, मारपीट, मानहानि या स्त्री-हरण जैसे अपराध करें। अतः इन व्यवस्थाओं की तुलना 'लॉज' में वर्णित साम्प्रदायिक असहिष्णुता की नीति से नहीं की जा सकती।

इस प्रकार कौटिल्य वर्णित राज्य अपेक्षाकृत सहिष्णु तो है किन्तु यह सही नहीं है कि वह धर्म निरपेक्ष है क्योंकि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ राज्य की नीतियों से धार्मिक प्रभाव का पूर्ण बहिष्कार है, जो कौटिल्य के राज्य में देखने को नहीं मिलता। इस प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र से राज्य की नीतियों पर धार्मिक प्रभाव देखने को मिलता है।

वैदिक परिप्रेक्ष्य में धर्म शब्द का अर्थ और अभिप्राय

डा0 दिनेशचन्द्र शास्त्री
वेद विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

धर्म शब्द संस्कृत का एक ऐसा शब्द है जिसके अर्थ बड़े व्यापक होते हैं।[१] इस शब्द का अनुवाद संसार की किसी भी भाषा के एक शब्द में नहीं किया जा सकता।[२] धर्म का शब्दार्थ होता है, "जो धारण करे"- धारणाद्धर्म[३] : (म्)। किसी वस्तु के जो गुण ऐसे हैं जिनसे वह अपने रूप में धारित रहती है, बनी रहती है, उन गुणों को उस वस्तु का धर्म कहा जाता है। इस यौगिक अर्थ के आधार पर प्रयोग में धर्म शब्द के बड़े विस्तृत अर्थ हो जाते हैं। किसी वस्तु के भौतिक व रासायनिक गुण (**Physical and Chemical properties**) उसके धर्म है। किसी वर्ण और आश्रम के नियम और कर्त्तव्य उसके धर्म हैं। राज्य नियम (**Laws and Statutes**) धर्म हैं। इसीलिए कानून की पुस्तकों (**Statutes books**) को संस्कृत में धर्मशास्त्र कहा जाता है। राज्य नियमों के अनुसार न्याय करने को धर्म कहा जाता है। न्यायाधीश को धर्मपति, धर्माध्यक्ष और धर्माधिकारी कहा जाता है[४] तथा न्यायालय को धर्माधिकरण कहा जाता है। इसी भाँति किसी सभा-समाज के नियमोपनियम उसके धर्म हैं। आत्मा, परमात्मा, परलोक और कर्मफल में विश्वास और इस विश्वास के आधार पर परमात्मा की उपासना और तदनुकूल आचरण को भी धर्म कहते हैं क्योंकि, शास्त्र की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा की सत्ता में तथा परलोक और कर्मफल के सिद्धान्त में विश्वास के बिना तथा परमात्मा की उपासना-जो कि मनुष्य के लिए पुण्य का काम है[५], धर्म में बैठे बिना मनुष्य का वास्तविक धारण नहीं हो सकता- उसका जीवन वास्तविक जीवन नहीं बन सकता। इसके बिना वह जीवन में वास्तविक उन्नति और सच्ची सुख-समृद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। यदि हम धर्म के इस महाविस्तृत अर्थ को ध्यान में रख लें तो किसी को यह कहने का साहस नहीं हो सकता कि धर्म किसी राष्ट्र की स्वतंत्रता और उन्नति में बाधक है।

धर्म का वास्तविक अभिप्राय

वैदिक धर्म में केवल परमात्मा में विश्वास रखने और उसी की उपासना करने को ही धर्म नहीं माना जाता। यह पूर्ण धर्म नहीं है, यह तो धर्म का केवल

एक अंग है। शास्त्रकारों ने धर्म का लक्षण यह किया है कि "जिस आचरण से सांसारिक ऐश्वर्य और अभ्युदय की प्राप्ति भी होती हो तथा मोक्ष की प्राप्ति भी होती हो उस आचरण को धर्म कहते हैं।"[६] हमारे शास्त्रों के अनुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करने का यह फल होना चाहिए कि हमें इस दुनिया में किसी प्रकार का कष्ट नहीं रहना चाहिए। हमें उसके द्वारा सब प्रकार की सांसारिक उन्नति कर सकनी चाहिए और सब प्रकार की सांसारिक सुख-समृद्धि प्राप्त कर सकनी चाहिए। और यह सांसारिक ऐश्वर्य और अभ्युदय इस प्रकार प्राप्त हो कि उसे प्राप्त करते हुए हम पाप में लिप्त न हों, पवित्र बने रहें, जिससे जब हम इस संसार से विदा हों तो उस पवित्रता के परिणाम स्वरूप हम सीधा मोक्ष की अवस्था में पहुँचें और उस अवस्था में पहुँचकर ब्रह्म-साक्षात्कार से मिलने वाले अलौकिक आनन्द का उपभोग करने के अधिकारी बन सकें। इस प्रकार के आचरण को वेदों के अनुसार धर्म के नाम से कहा जाता है।

पाद टिप्पणी :

1. **The word Dharma is used in various contexts in the Vedas, the Upanishads etc. such as virtue, merit, attributes, nature, quality duty, Law, right, righteousness, property etc. All included in Dharma according to Manu, Patanjali and others. The truth, non-violence, non-stealing, celibacy and non-possession are the main headings or principles of Dharma. Adharma is just contradictory to Dharma.**

   (परोपकारी, सितम्बर 1995, पृष्ठ 333)

2. महाभारतम्, कर्णपर्व 69, 59
3. आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, मेरा धर्म, पृष्ठ 132
4. देखो, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ 412
5. पाणिनि के अनुसार धर्म शब्द के दो अर्थों में एक अर्थ पुण्य का काम भी है। जैसे कि– धर्म चरति धार्मिकः (4.4.41)
6. वैशेषिक दर्शन (1.1.2)

राजनीति में धर्म का स्थान : वैदिक दृष्टिकोण

डॉ० सत्यदेव निगमालंकार
वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

मनुस्मृति में राजनीति के साथ धर्मों के समन्वय को बहुत महत्त्व दिया गया है। वहाँ लिखा है कि जहाँ सभासदों के देखते-देखते धर्म-अधर्म के द्वारा और सत्य अनृत के द्वारा कुचला जाता है, वहाँ सभासदों का ही दोष होता है।[१] धर्म नष्ट होने पर विनाश उपस्थित कर देता है और रक्षित होने पर रक्षा करता है। इसलिये राष्ट्र में धर्म का कभी हनन नहीं करना चाहिये।[२] यदि राष्ट्र में धर्म पर अधर्म हावी हो जाता है तो चौथाई दोष अधर्म के कर्ता का होता है, चौथाई साक्षी देने वाले का, चौथाई सब सभासदों का और चौथाई राजा का होता है।[३] इसलिए राजा को चाहिए कि वह धर्मासन पर बैठकर, समाहित होकर राज्यकार्यों को देखें।[४] धर्म संशय के निर्णय के लिए राजा त्र्यवरा परिषद् का निर्माण करता है जिसमें एक विद्वान् ऋग्वेद का ज्ञाता, दूसरा यजुर्वेद का ज्ञाता और तीसरा सामवेद का ज्ञात होता है।[५] इस प्रकार वेदों की ही व्याख्या करने वाले मनु की दृष्टि में राजा धर्माध्यक्ष होता है। वेद में भी राजा को धर्माध्यक्ष, धर्मकृत् और धर्मणस्पति विशेषणों से स्मरण किया गया है-

राजा का प्रतिनिधि कह रहा है कि मैं प्रजाओं के राजा, अद्भुत गुणकर्मों वाले, धर्माध्यक्ष, अग्रणी नृपति से जो निवेदन कर रहा हूँ उसे वह सुनें।[६] शान्ति का अग्रदूत राजा धर्माधिपति है, प्रजा को पवित्र करने वाला है, बहुत धन सम्पन्न है। उसके चलाये हुए नियमों में सारे प्रजाजन चलते हैं।[७] उस इन्द्र राजा के गीत गाओ, जो ज्ञानी है, धर्मकृत् है, विपश्चित् है और स्तुति के योग्य है।[८]

ये मन्त्र राजा के धर्मानुकूल कार्य करने पर प्रकाश डालते हैं।

राजा को वेद में अग्रनायक और तेजस्वी होने के कारण 'अग्नि' तथा कान्ति का उपासक होने के कारण 'सोम' नाम से स्मरण किया गया है। इन नामों से स्मरण करता हुआ वेद राजा को कहता है- "तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम राज्य में धर्म कर्मों का पोषण करते रहो। हे अग्निस्वरूप राजन् ! तुम अग्नि की तरह चमको, सहस्रजित् बनो, देवदूत और प्रशंसनीय बनो और धर्मों का पोषण करते रहो।[९] "हे शान्ति के अग्रदूत सोम नामक राजन् ! आप पर्जन्य की तरह वर्षा करने वाले हो, सूर्य के समान देदीप्यमान हो, प्रजा में धर्म-कर्म ज्ञान-विज्ञान आदि की वर्षा करना आपका कर्त्तव्य है। आप वर्षक

बनकर प्रजा में धर्मों का धारण-पोषण करते रहो"।[१०]

वेदों में अदिति राष्ट्रभूमि का नाम है। उसमें नियुक्त राज्याधिकारियों को आदित्य कहा गया है। उन्हें सम्बोधन करके वेद कहता है- "हे राज्याधिकारियों, जिसे तुम उत्कृष्ट नीतियों से ले चलते हो, और धर्म मार्ग पर चलाते हो वह मनुष्य दुरितों से पार होकर, अक्षत होकर उन्नति को प्राप्त करता है और पुत्रपौत्रादि प्रजाओं से बढ़ता है"।[११]

राजा का एक नाम 'वायु' भी है, क्योंकि वह वायु के समान प्रगति करता है और दूसरों को प्रगति कराता है। वायु नाम से सम्बोधन करके उसे कहा गया है- "हे राजन् आप धर्म मर्यादा पर चलते हुए प्रजा की समस्त सम्भाव्य विपदाओं से रक्षा करते हो। हे राजन्, धर्मानुकूल आचरण करते हुए और प्रजा से करवाते हुए आप असुरों द्वारा किए जाने वाले उपद्रवों से प्रजा की रक्षा करते हो"।[१२]

कभी-कभी धर्म के नाम से राज्य में प्रदूषण भी चल पड़ता है। अनेक कुपन्थ चल पड़ते हैं, जो सच्चाई पर नहीं होते। भोले-भाले लोगों को प्रलोभनों द्वारा आकृष्ट करके उन्हें फंसाया जाता है। वेद के अनुसार राजा को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि राज्य में धर्म-प्रदूषण न होने दें। "अग्नि नामक अग्रनायक राजा को चाहिए कि वह अमर अर्थात्-सजीव (जागरूक) होकर राष्ट्र में विद्वानों की पूजा करे और धर्म-प्रदूषण से राष्ट्र को बचाता रहे"।[१३]

जिस राज्य में धर्म का पालन नहीं होता वहाँ उच्छृंखलता बढ़ जाती है, प्रजाएँ अपने कर्त्तव्य की मर्यादा में रहना छोड़ देती है, अधार्मिक लोग अधर्म के कुचक्र चलाने लगते हैं, राज्य दूषित, कलंकित और अपवित्र हो जाता है। अत: वेद की दृष्टि में राजा का कर्त्तव्य है कि धर्मप्रचार द्वारा राष्ट्र की पवित्रता को स्थिर रखे।[१४] "हे सोम राजन्, आप से निकलने वाली धर्म की किरणें राज्य के सभी स्थानों में पहुँच जाती हैं एवं धर्म के द्वारा आप राष्ट्र को पवित्र करते हो और सम्पूर्ण राष्ट्र के अधिपति होकर शोभा पाते हो।"[१५]

राष्ट्र में मित्र और वरुण नाम के दो राज्याधिकारी होते हैं। उन्हें सम्बोधन करके कहा गया है कि "हे मित्र और वरूण नामक विद्वान् राज्याधिकारियों, आप दोनों धर्म का पालन करवा कर ही अपने व्रतों की रक्षा करते हो।"[१६]

'इन्द्र' नाम से राजा को आमन्त्रित करते हुए कहा गया है "कि तुम धर्म से भी तीक्ष्ण हो, धर्म के द्वारा बलवान् होते हो।"[१७] 'ग्रावा' नाम से विद्वानों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि "प्रेरक सविता देव अर्थात्-परमेश्वर या राजा तुम्हारे अन्दर धर्म की प्रेरणा करे। तदनुसार तुम विद्यादानादि धर्मों के प्रचार में लग जाओ"।[१८]

'इन्द्र' नाम से प्रजाजनों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि "आप धर्म के मार्ग से चलो और धर्म की योजना कराना जानो, तभी तुम्हारी उत्तम कीर्ति होगी"।[१६]

इस प्रकार वेद के अनुसार राजा, राज्याधिकारीगण, प्रजाएं सबको धर्म-मार्ग पर चलना उचित है। जिस राष्ट्र में धर्म का पालन होता है, उस राष्ट्र के लोग राष्ट्र की उन्नति को देख कर सहसा पुकार उठते हैं- "देखो, राष्ट्र की उन्नति का सूर्योदय हुआ है, जो धर्म पर आश्रित है। राज्य में धर्मानुकूल शासन होने से सब अमित्रे, वृत्र, दस्यु, असुर और सपत्न नष्ट हो गये हैं। हम चाहते हैं कि यह धर्मोदय सदा ही बना रहे और राष्ट्र उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच जाये"।[२०]

पाद टिप्पणियाँ

१. यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः।।८.१४

२. धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।।८,१५

३. पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति।।८.१८

४. धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।
प्रणम्यलोकपालेभ्यः कार्यदर्शन मारभेत्।।८.३

५. ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्म संशयनिर्णये।।१२.११२

६. विशां राजानमभ्दुतमध्यक्षं धर्मणामिम्। अग्निमीळे स उ श्रवत्।।ऋ० ८,४३,२४

७. विश्वो यस्यव्रते जनो दाधार धर्मणस्पतेः। पुनानस्य प्रभूवसोः।।ऋ० ६,३५,६

८. इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे।।ऋ० ८,६७,१

९. समिधानः सहस्त्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि। देवानां दूत उक्थ्यः।।ऋ० ५, २६,६

१०. वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः। वृषा धर्माणिदधिषे।।ऋ० ६,६४,१

११. अरिष्टः समर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये।।ऋ०१०,६३,१३

१२. त्वं विश्वस्माद्भुवनात्पासि धर्मणा सूर्यात्पासि धर्मणा।।ऋ० १,१३४,५

१३- अग्निर्हि। देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथो धर्माणि सनता न दूदुषत्।। ऋ० ३,३१

१४- विश्वा धामानि विश्व चक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते सतः परियन्ति केतवः।
व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि।।ऋ० ६,८६,५

१५- स तू पवस्व परि पार्थिवं रजो दिव्या च सोमः धर्मभिः।
त्वां विप्रासो मतिभिर्विचक्षण शुभ्ं हिन्वन्ति धीतिभिः।।ऋ० ६,१०७,२४

१६. धर्मणा मित्रावरूणा विपश्चिता व्रता रक्षेये असुरस्य मायया।।ऋ० ५,६३,७

१७. आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतजानस्तुविष्मान्।।ऋ० १०,४४,१

१८. प्र वो ग्रावाणः सविता देवः सुवतु धर्मणा। धूर्षु युज्यध्वं सुनुत।।ऋ० १०,१७५,१

१६. असृग्रमिन्दवः पथा धर्मन्नतस्य सुश्रियः। विदाना अस्य योजनम्।।ऋ० ६,७,१

२०. विभ्राड्बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मन्दिवो धरुणे सत्यमर्पितम्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहंतमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा।। ऋ० १०,१७०,२

● ● ●

गीत गाते रहो

–महावीर 'नीर'
गुरुकुल कांगड़ी

गीत गाते रहो, गुन-गुनाते रहो।
जिन्दगी की खुशी को, बढ़ाते रहो।।
साधना भी यही,
कामना भी यही,
भाव अपने बदल, मुस्कराते रहो...........
दर्द मिलते रहे,
कष्ट आते रहे,
कारवाँ ना रुके, ध्येय पाते रहो...........
नाश का खेल तो,
रुकने वाला नहीं,
सोच कर क्यों थके, पग बढ़ाते रहो........
मातमी धुन बजी,
अर्थियाँ भी उठी,
आँख नम ना करो, अश्रु गाते रहो.........
फूल बनकर जियो,
धूल में ना मिलो,
जन्म अनमोल है, खिलखिलाते रहो........
दिल मचलने लगे,
पग थिरकने लगे,
रात किसकी सगी, गुद-गुदाते रहो..........
गम तो बिखरा पड़ा,
दर्द बनकर खड़ा,
प्यार के मेघ बन, रस लुटाते रहो..........
बागवाँ से कहो,
ले सुधि बाग की,
आँधियों से लड़ो, चम-चमाते रहो..........
उग्र मौसम बना,
मौत बनकर खड़ा,
सूर्य बनकर जियो, तम भगाते रहो.........
मौत तो मौत है,
आएगी एक दिन,
कर्म अपना करो, भोग पाते रहो...........
जहर जो घोलते,
राष्ट्र की गंध में,
उनके नामोंनिशां, सब मिटाते रहो.........
महक बनकर जियो,
शूल बिखरे पड़े,
गंध ऐसी बनो, मन लुभाते रहो...........
पात झर ना सके,
फूल बिखरें नहीं,
आशियाने को, अपने सजाते रहो...........
तेज के पुञ्ज हो,
तप के कुन्दन बनो,
ऊँचे-ऊँचे बढ़ो, यश कमाते रहो...........
देख करके चलो,
ठोकरे ना लगे,
पथ के रोड़ों को, अपने हटाते रहो........
शूर बनकर जियो,
क्रूर बनना नहीं,
जग नमन में झुका, सिर नवाते रहो........
देश की आन बन,
शान से तुम जियो,
दिल में ऐसे बसो, याद आते रहो..........
आग बनकर जियो,
राख बनना नहीं,
दीप से तुम जलो, जगमगाते रहो...........
हिमशिखर से गलो,
गंग-धारा बनो,
प्यास जन्मों की, अपने मिटाते रहो.........
गहरे सागर बनो,
ऊँचे पर्वत बनो,
आसमां की तरह, सब पे छाते रहो........
रूप देखा करो,
सपने बुन-बुन जियो,
भावना की नदी में, डुब-डुबाते रहो........
सबको जीवन मिले,
सबकी आशा फले,
सबके सपनों का, भारत बनाते रहो.........
सत्य बनकर जियो,
झूठ मर जाएगा,
'नीर' ऐसे बनो, सबको भाते रहो..........